

JAINA DARŚAN KĀ ĀDIKĀL

L. D. SERIES 76
GENERAL EDITORS
DALSUKH MALVANIA
NAGIN J. SHAH

BY
DALSUKH MALVANIA



L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY AHMEDABAD-9

जैन दर्शन का आदिकाल

ला. द. ग्रन्थमाला ७६

प्रधान संपादक

दलसुख मालवणिया
नगीन जी. शाह

लेखक

दलसुख मालवणिया



प्रकाशक

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद ९

Printed by

Mahant Tribhuvandas Shastri

Shree Ramanand Printing Press

Kankaria Road

Ahmedabad-380022.

Published by

Nagin J. Shah

Director

L. D. Institute of Indology

Ahmedabad-380009.

FIRST EDITION

April 1980

PRICE RUPEES 8

प्रास्ताविक

जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् और विचारक पंडित श्री दलसुखभाई मालवणियाजीने शिवाजी युनिवर्सिटी, कोल्हापुर में डॉ. ए. एन. उपाध्ये की पुण्य स्मृति में दो व्याख्यान सन् १९७७ अक्टूबर में दिये थे इन्हे प्रकाशित करते बड़ा आनन्द होता है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से दार्शनिक चिन्तन के विकास को यथातथ समझने का भरसक प्रयत्न करने वाले जो इनेगिने विद्वान हैं उन में मालवणियाजी का प्रमुख स्थान है । जैन दर्शन की प्रमाण और प्रमेय सम्बन्धी समस्याओं के चिन्तन के आगमों में जितने स्तर दिखाई देते हैं उन सबको स्पष्ट करते हुए उन्होंने इन दो व्याख्यानों में अपने दीर्घकालीन अध्ययन का सार रख दिया है । इन दो व्याख्यान 'गागर में सागर' जैसे हैं और जैन विद्वानों के लिए विचार की नई दिशा दिखलाने वाले हैं । आशा है 'जैन दर्शनका आदिकाल' नाम से प्रकाशित किये जा रहे ये दो व्याख्यान जैन दर्शन में रुचि रखनेवाले सब के लिए रसप्रद और उपयोगी सिद्ध होंगे ।

ला. द. विद्यामंदिर
अहमदाबाद-३८०००९
१ दिसम्बर १९७९

नगीन जी. शाह
अध्यक्ष.

लेखककी ओरसे

शिवाजी यूनिवर्सिटी, कोल्हापुर में मैने डो. ए. एन्. उपाध्येकी स्मृतिमें दो व्याख्यान ता. ७ और ८ अक्टूबर, १९७७ में दिये थे । उन्हीं दो व्याख्यानों को यत्र तत्र संशोधन-वृद्धि करके प्रस्तुत 'जैनदर्शन का आदिकाल' प्रकाशित किया जा रहा है । इन व्याख्यानों के निमित्त कुछ नया सोचने का मुझे अवसर मिला एतदर्थ मैं शिवाजी यूनिवर्सिटी का आभारी हूँ ।

ई. १९४९ में न्यायावतारवार्तिक वृत्ति (सिंधी जैनग्रन्थमाला) की प्रस्तावना में मैंने जैन आगमों से जैनदर्शनकी रूपरेखा देनेका प्रयत्न किया था । उसी प्रस्तावनाको 'आगमयुगका जैनदर्शन' इस नामसे सन्मति ज्ञानपीठ, आग्राने ई. १९६६में प्रकाशित किया था । किन्तु उसमें जैन दर्शनका प्रारंभिकरूप कैसा था इसकी चर्चा मैंने नहीं की थी ।

जैनदर्शनके विकास को समझने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उसके प्रारंभिकरूप को समझा जाय । अतएव प्रस्तुत व्याख्यानों में मैंने इसी विषयकी विशेष चर्चा करना उचित समझा है । इस चर्चा के बाद भी उक्त प्रस्तावना और प्रस्तुत जैन दर्शन के प्रारंभिकरूप के बीच एक और कड़ी की आवश्यकता है जिसमें विस्तारसे आगम के द्वितीयस्तर गत जीवविचार आदि विवरण दिया जाय । ऐसा होने पर ही आगम युगका जैन दर्शन अपने यथार्थ रूपमें विद्वानों के समक्ष उपस्थित होगा ।

उक्त प्रस्तावनामें मैंने प्रमाण और प्रमेय की चर्चा जो ताकिकों ने की हैं उसीका पूर्वरूप आगमों में कैसा था-यह दिखाने का प्रयत्न किया था । किन्तु वह आगम के तीसरे स्तरके आधार से था । प्रस्तुत में आगम के प्राचीनतम प्रथम स्तर के आधार से जैनदर्शनका प्रारंभिक रूप कैसा था यह दिखानेका प्रयत्न है । पता नहीं मेरे इस प्रयत्न को विद्वान् किस रूपमें लेंगे । किन्तु मैंने इसमें मुझे जो प्रतीत हुआ उसे देने का प्रयत्न किया है । यह भी संपूर्णरूपमें उपस्थित कर सका हूँ यह मैं नहीं कह सकता । किन्तु यह भी मात्र रूपरेखा है । इसमें और भी कई बातें जोड़ी जा सकती हैं । किन्तु वह तो कोई अन्य तटस्थ विद्वान् करे तब होगा । मुझसे जो वन पडा मैंने विद्वानों के समक्ष विचारणार्थ रखा है । आशा करता हूँ कि इस दिशामें विद्वानों का ध्यान जायगा तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा । डॉ. रमणीकभाई शाहने प्रुफ देखने में सहायता की है अतएव उनका आभारी हूँ ।

ला. द० विद्यामन्दिर
अहमदाबाद-९.
ता. ७-५-१९७९

दलसुख मालवणिया

उपयुक्त ग्रन्थों की सूची

- आचा० आचारांगसूत्र, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९७७
 आचा० चू० आचारांगचूर्णि, ऋषभदास केसरीमल, रतलाम, १९४१
 आचा० नि० आचारांग निर्युक्ति, शीलंकटोकान्तर्गत, आगमोदय समिति १९१६
 आगमयुगका जैनदर्शन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९६६
 उक्त० उत्तराध्ययन, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९७७
 उपनिषद् वाक्य महाकोष, गुजराती प्रेस, बम्बई, १९४०
 जम्बूद्वीपवर्णन, सुत्तागमे, १९५४
 जयध्वला, कसायपाट्टुडटीका, मथुरा, १९४४
 जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६४
 जै.सा.इ. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, पं.कैलाशचन्द्र, वर्णी ग्रन्थमाला, बनारस १९६३
 तत्त्वार्थ तत्त्वार्थसूत्र, पं. मुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९७६
 तत्त्वार्थभाष्य —सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि, मोतीलाल लाधाजी, पूना, वीर सं. २४५३
 तित्थोगाली, श्वेताम्बर जैन संघ, जालोर, १९७५
 दीघ० दीघनिकाय, सं० कश्यप, १९५८
 धवला०, षट्खंडागम धवलाटीका, जैन सा. फंड, अमरावती १९३९
 नंदी, महावीर जैन विद्यालय, १९६८
 नंदीचूर्णि, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, १९६६
 न्याया० न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, सिंधी ग्रन्थमाला, १९४९
 प्रज्ञापना, पन्नवणा, महावीर जैन विद्यालय, १९६९
 प्रवचनसार, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, १९६४
 भगवती, वियाहपण्णत्ति, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९७४
 भगवई, सुत्तागमे, १९५४
 मूलाचार दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२१
 वीरनि० वीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना, मुनि श्री कल्याणविजयजी, १९३१
 व्य० व्यवहारसूत्र, सुत्तागमे, १९५४
 समवाय, सुत्तागमे, १९५३
 संबोधि, ला० द० विद्यामन्दिर प्रकाशित त्रैमासिक
 संप्रसाद, चतुर्भुज पूजारा सन्मान समिति, अहमदाबाद, १९७७
 सूत्रकू०, सूत्रकूतांग, महावीर जैन विद्यालय १९७८
 सूत्रकू० चूर्णि, ऋषभदास केसरीमल, रतलाम, १९४१
 स्थानांग-समवायांग, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद १९५५

जैनागम'

डो. उपाध्ये की स्मृतिमें यह व्याख्यानका आयोजन किया गया है और डो. उपाध्येने अपने जीवन में संस्कृत विषयमें संशोधन किया ही है। किन्तु उनका मुख्य संशोधन प्राकृत-अपभ्रंशको लेकर हुआ है। पट्टखंडागमके सोलह भागों के संपादन में उनका पूरा सहयोग डो. हीरालालजी को मिला था और पट्टखंडागम दिगंबर संप्रदायकी दृष्टिसे आगमस्थानीय है और जैनों की दृष्टि से आगम ही समग्र जैन साहित्यका—जो प्राकृत-संस्कृत-अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं में लिखा गया है—स्रोत है। अतएव मैंने 'जैनागम' इस विषयमें प्रथम व्याख्यान देनेका सोचा। और आज आप सबके समक्ष उसी विषयमें अपने विचार रखने जा रहा हूँ। यह अवसर देने के लिए मैं शिवाजी युनिवर्सिटी के कुलपति श्रीपाटिल का आभारी हूँ।

जैनागम और वेद

वेदकी सुरक्षा शब्दतः की गई है। अर्थकी परंपरा प्रायः लुप्त हो गई थी। जैनागम के विषयमें जानना जरूरी है कि परंपराके अनुसार अर्थका उपदेश अर्हत् करते हैं और उस को शब्दमें बद्ध करते हैं उनके प्रमुख गणधर^१। अर्थात् जैन परंपराके अनुसार प्रधानरूपसे आगम तो तीर्थंकर का उपदेश है किन्तु हमें जो प्राप्त है वह तदनुसारी शब्दबद्ध आगम है। अर्थका ही महत्त्व होने से शब्द पर विशेष ध्यान दिया नहीं जा सकता था। अतएव शब्द की एकरूपता हो नहीं सकती है। तात्पर्य में भेद नहीं होना चाहिए—शब्द का रूप जो भी हो। अतएव परिणाम यह हुआ कि जिस भाषामें भगवान द्वारा उपदिष्ट अर्थ शब्दबद्ध किया गया वह भाषा प्राकृत होने से, लोकभाषा होने से वैदिक भाषाकी तरह उसका एकरूप सतत सुरक्षित नहीं रह सकता था। अतएव परंपरा के अनुसार भगवान महावीरका उपदेश अर्धमागधी भाषामें होता था^२ ऐसा मान कर भी श्वेताम्बर जैनों के आगम अर्धमागधी में सुरक्षित न रहकर महाराष्ट्रीप्राकृतप्रधान हो गये हैं। और प्राकृतभाषा की प्रकृतिके अनुसार शब्दों के रूपों में भी संस्कृत के समान एकरूपता देखी नहीं जाती। दिगंबरों के मान्य सिद्धान्त भी अर्धमागधी में न होकर शौरसेनीप्रधान हो गये हैं। ऐसा होते हुए भी प्राचीन आगमों की अर्थपरंपरा या तात्पर्यपरंपरा एक ही थी यह भी निश्चितरूपसे कहा जा सकता है। बादके कालमें सांप्रदायिक रूप दिया जाने लगा तब अर्थपरंपरामें भी भेद दृष्टिगत होने लगा^३।

१ डो. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये की स्मृतिमें शिवाजी युनिवर्सिटी में ता०

७-१०-७७ को दिया गया प्रथम व्याख्यान।

२ आव. नि. १९२; आगमयुगका जैनदर्शन, पृ. ७। मुनि श्रीजम्बूविजयजी की सूत्रकृतांग की प्रस्तावना पृ० २८ से 'वाचना' प्रकरण देखें।

३ समवाय-३४, भगवई में उल्लेख है कि देवों की भाषा अर्धमागधी है ५.४.२४।

४ देखें, धवलाटीका भा० १, सू० ९३, पृ० ३३२। धवला भा० ३, प्रस्तावना पृ० २८। 'संयत' पदको लेकर जो विवाद हुआ वह सुप्रसिद्ध है।

आगमों की सुरक्षामें एक दूसरी भी बाधा थी। ब्राह्मणोंमें वेद की सुरक्षा पितापुत्र की परंपरामें होती थी और जैनों में गुरुशिष्य परंपरामें। यह आवश्यक नहीं कि पिताको जैसा योग्य पुत्र मिलता है वैसा ही योग्य शिष्य गुरुको मिले। ऐसी स्थिति में आगमकी सुरक्षा कठिन थी। आगमकी सुरक्षा श्रमणों के अधीन थी और श्रमणों में प्रायः विद्याग्रहण की योग्य आयुवाले शिष्य श्रमणाचार्य को मिले यह संभव नहीं होता था। पिता अपने पुत्र को बाल्यकालसे वेद पढाता था किन्तु श्रमणोंमें यह व्यवस्था संभव नहीं थी। यह भी कारण है कि आगमों की शब्दपरंपरा और अर्थपरंपरा भी खंडितरूपमें ही प्राप्त होती है। फिर भी जो कुछ सुरक्षित रह सका है उससे हम भगवान महावीरके मौलिक उपदेश को आंशिकरूपमें ही सही प्राप्त कर सकते हैं। प्रस्तुत व्याख्यान में उस मौलिक उपदेश को ही ध्यान में रख कर मैंने जैनागमके विषयमें चर्चा करना चाहा है।

वेद और जैनागमके प्रतिपाद्य विषयको देखा जाय तो कहना होगा कि दोनों में अंतर अवश्य है किन्तु वह भारतीय समग्र धार्मिक परंपरा का उत्तरोत्तर जो विकास हुआ है उसीके कारण है। भारतीय धार्मिक परंपरा उत्तरोत्तर जो नया नया रूप लेती है उसी शृङ्खलामें एक कड़ी यह जैनागम भी है। उसे वैदिक धारासे सर्वथा पृथक् करके नहीं देखा जा सकता, उसे समग्ररूपसे भारतीय परंपरा में जो विकास हुआ है उसी परिप्रेक्ष्य में ही देखना होगा।

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा में विरोध की बात कही जाती है किन्तु दोनों का जो विकास हम देखते हैं वह दोनों के पारस्परिक घातप्रत्याघात का ही फल है—ऐसा मानना आवश्यक है। अतएव दोनों का विकास स्वतन्त्र है—ऐसा नहीं किन्तु अन्योन्याश्रित है—यही मानना उचित है और ऐसा मानने पर यह भी मानना पड़ता है कि गंगा—जमुनाके संगम के बाद जैसे दोनों नदीयाँ एकरूप हो जाती हैं वैसे ही भारतीय धार्मिक परंपरा में भी दोनों परंपराएँ एकरूप हो जाती हैं और हमारे समस्त हिन्दुधर्म के रूप में भारतीय धर्म परंपरा आती है। जब हम हिन्दुधर्म ऐसा नाम देते हैं तब ब्राह्मण और श्रमण का भेद गौण होकर दोनों का ऐक्य सिद्ध होता है। यही कारण है कि बाह्याचारकी दृष्टि से एक ब्राह्मणधर्मीको किसी जैनधर्मी से अलग करना कठिन हो जाता है। वैदिकों—ब्राह्मणों में नाना प्रकार के पूजाप्रतिष्ठान और बाह्याचार को लेकर नानाप्रकारके भेद होने पर भी सभी वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानकर एकरूपता सिद्ध करते हैं वैसे ही जैनों ने भी अपने आगमको वेद संज्ञा देकर उस एकता की पुष्टि की है। इतनाही नहीं तत्काल में प्रचलित विद्युत्ओं के भी अपने आगमों में समाविष्ट करनेका जो प्रयत्न हुआ है वह भी इसी की ओर संकेत करता है कि भारतीयपरंपरा के विकास की एक कड़ीरूपमें ही हम जैनविद्याको देख सकते हैं सर्वथा स्वतंत्ररूपमें नहीं।

वेद से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में जो भारतीयधर्म का रूप हमें मिलता है वह आध्यात्मिक नहीं किन्तु भौतिकवादी है, परिग्रहप्रधान है। उपनिषद् में आकर अन्तर्निरीक्षण शुरू हुआ है यह स्पष्ट देखा जा सकता है। अर्थात् ही बाह्यदृष्टि को छोड़ कर अब अन्तर्मुख होकर चिंतन शुरू हुआ। यही कारण है कि उपनिषदोंमें यज्ञीय कर्मकांड का निराकरण करके आत्म-

१. आचा. १०७; “दुवालसंगं वा प्रवचनं वा वेदो तं जे वेदयति स वेदवी” आचा. चू. पृ. १८५; विन्टरनिदशः हिस्ट्री ओफ इंडियन लिटरेचर भाग २, पृ. ४७४। पं० कैलाशचन्द्र, जैनधर्म पृ. १०७।

लोज की त्वरता दिखाई देती है। इसी आत्मलोज की परंपरा को कुछ श्रमणों ने अपनाया है और ब्राह्मणों से अंतर्मुख होने का आह्वान विशेष रूप से किया। सब श्रमणों ने ऐसा नहीं किया यह तो अक्रियावादी आदि की मान्यताओं को ध्यानमें लें तो मानना ही पड़ेगा। भगवान महावीर और बुद्धने इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को प्रधान रूप से अपनाया और इसी का प्रतिघोष हम उनके बादके वैदिक वाङ्मयमें भी देखते हैं। क्रमशः हिंसक यज्ञों की जो भौतिक संपत्ति के लिए कर्मकांडकी प्रवृत्ति चल रही थी उसका निराकरण हो कर आध्यात्मिक यज्ञों के अनुष्ठान की बात चल पड़ी थी—यह स्पष्ट होता है। और मानव मात्र का धार्मिक अधिकार समान है—यह भावना भी बढ रही थी।

इसी मानवमात्रकी एकता की भावना को भगवान महावीर ने और भी नया रूप दिया और कहा कि जीने का अधिकार केवल मानव को ही नहीं किन्तु जगत के सूक्ष्म-स्थूल सभी जीवों को है। अतएव सामायिक व्रत की व्याप्ति केवल मानव तक नहीं किन्तु संसार के सभी जीवों तक है। अतएव किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। उपनिषदों में ब्रह्म की कल्पना है, आत्मात्रैत की कल्पना है—किन्तु अहिंसा और अपरिग्रह आदि को उतना महत्त्व नहीं जितना कि भगवान महावीर ने अपने उपदेश में दिया। उनके मत में ब्रह्म का नहीं किन्तु समका महत्त्व है। उनका तो कहना था कि परिग्रह ही हमारे लिए बन्धन है और परिग्रह के लिए ही जीव सब प्रकार के पापाचार—हिंसा, चोरी, झूठ आदि का आश्रय लेता है। अतएव समका प्रचार करके परिग्रह के पाप से मुक्ति दिलाना ही जैनागमका ध्येय हो गया।

भगवान् महावीर का यह सम या सामायिक का उपदेश जानने का हमारे पास एक ही साधन है और वह है जैनागम।

किन्तु जैनागम क्या है, और कितने हैं और किसने कब लिखे या ग्रथित किये—इस विषय में जैनों में ही काफी मतभेद है। अतएव उस आगम के विषय में इस व्याख्यान में कुछ चर्चा करना मैंने उचित माना है। इतःपूर्व आगमों के विषयों में मैंने काफी लिखा है किन्तु यज्ञों जो विचार में रख रहा हूँ यह भिन्न दृष्टि से है। अतएव पुराने विचारों का पुनरावर्तन मात्र नहीं है यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। इतना ही नहीं किन्तु मेरे इतःपूर्व के विचारों में यहाँ संशोधन भी दिखाई देगा।

वर्तमान में जैनागम और तद्विषयक मतभेद

जैनागमके विषय में प्रथम यह जानना जरूरी है कि वर्तमानमें जैनागमान्तर्गत क्या समझा जाता है। जैनों के अनेक संप्रदाय हैं और इस विषयमें ऐक्य नहीं। दिगम्बरोंके मतसे तो मूल जैनागम आचारांग आदि द्वादशांग विच्छिन्न हो गये हैं और केवल दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगके अंश पूर्वके आधार से रचे गये कषायपाहुड और षट्खंडागम आगम-स्थानीय हैं। श्वेताम्बरों के मतसे ४५ ग्रन्थ जैनागममें शामिल है। उनके मतसे आचारांग आदि ११ अंग ग्रन्थ जिस रूपमें भी खंडित रूप में संभव था सुरक्षित कर लिया गया है और अन्य ग्रन्थ जो स्वविरोंने भगवान् महावीर के उपदेशका अनुकरण करके रचे थे वे भी आगमान्तर्गत कालक्रम से हो गये हैं। इतना ही नहीं, इन ग्रन्थों की टीकाएँ—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण और टीका मिलकर पंचांगी जैनागमरूप से प्रमाणभूत है। स्थानकवासी और

तेरापंथी केवल ३२ ग्रन्थों को ही मात्र मूलरूपमें जैनागमान्तर्गत- गिनते हैं । उनके मतसे टीकाओं का आगमरूपसे प्रामाण्य नहीं ।

आगमोंके विषयमें इस मतभेद का मूल आगमों की सुरक्षा के लिए जो वाचनाएँ हुई उन्हींमें है । अतएव यहाँ संक्षेपमें उन वाचनाओंके विषयमें विचार कर लेना जरूरी है । इन वाचनाओंके विषयमें और श्रुतावतार के विषयमें अभी तक बहुत कुछ लिखा गया है । वाचना के विषयमें विस्तार से प्रयत्न मुनि श्री कल्याणविजयजी ने अपने 'वीरनिर्वाण संवत और जैन कालगणना' (सं० १९८७) में किया । तदनन्तर श्री पं० कैलाशचन्द्रजी ने 'जैन साहित्य का इतिहास-पूर्व पीठिका' (वीर नि. २४८९) में विस्तार से समालोचन किया है । श्रुतावतार के विषयमें पट्टवंडागमकी प्रथमभागकी प्रस्तावनामें विस्तारसे वर्णन है और उसीका विशेष विवेचन पं० कैलाशचन्द्रजी की उक्त पुस्तक में भी है । यहाँ तो मुझे इस विषयमें जो कुछ कहना है वह संक्षेपमें ही हो सकता है । और मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह अब तक की इस विषयकी जो विचारणा हुई है उसीको लेकर ही होगा ।

पाटलिपुत्रकी वाचना

इस वाचना को श्वेताम्बर संप्रदाय मानता है । इस वाचनाका कोई उल्लेख^१ दिगम्बरों के प्राचीन साहित्यमें नहीं । श्वेताम्बरों में भी इसका सर्वप्रथम उल्लेख तित्थोगालीमें (गा० ७१४ से) है । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि उसमें केवल इसी वाचनाका उल्लेख है और उसके बाद होनेवाली वाचनाओं का उल्लेख नहीं है । किन्तु चूर्णमें है । अतएव मानना पडता है कि मूलमें तित्थोगाली निर्युक्तिकालकी रचना है और चूर्णपूर्व की रचना है^२ । इस पाटलिपुत्र की वाचना की खास बात यही है कि तुर्मिश्च अकाल-अनावृष्टि के कारण जैन श्रमण संघ का मगध से बाहर जाना पडा और कई श्रमण मृत्युके शरण हो गये । सुकाल होने पर जो भी चचे थे वे पाटलिपुत्रमें एकत्र हुए और एक दूसरे से पूछ पूछकर ग्यारह अंग जिस रूप में उपलब्ध हो सका संकलित किया गया । किन्तु सिद्धान्तके सारभूत दृष्टिवाद किसी को याद नहीं था । अतः सोचा गया कि भद्रबाहु^३ जो योगसाधनामें लगे हैं उन्हीं से इसकी वाचना ली जाय । भद्रबाहु ने स्थूलभद्र^४ को वाचना दी किन्तु अपनी ऋद्धिके प्रदर्शनके कारण केवल दशपूर्वको अनुज्ञा दी-अर्थात् १४ में से केवल दश ही वे दूसरों को पढा सकते हैं- ऐसा कहा । इस प्रकार स्थूलभद्रके बाद दशपूर्वका ही ज्ञान शेष रहा ।

यहाँ तित्थोगालीमें भद्रबाहु कहाँ थे यह नहीं स्पष्ट होता । किन्तु वे पाटलिपुत्र से कहीं बहुत दूर तो हो नहीं सकते थे । इसका स्पष्टीकरण हमें आवश्यक चूर्णसे प्राप्त होता है । उसमें उसी प्रसंगमें लिखा है-“नेमालवन्नणीए य भद्रबाहुसामी अच्छि चोदसपुंवी” पृ० १८७। अतएव वे इस परंपराके अनुसार उज्जैनमें जैसी कि दिगम्बरों की मान्यता है, हो नहीं सकते । दूसरी बात आवश्यक चूर्णसे यह भी स्पष्ट होता है कि भद्रबाहु स्वामी अपनी साधना पूरी

१ यहाँ मैंने केवल प्राचीनतम उल्लेखको प्राधान्य दिया है । अन्य उल्लेखों के लिए देखें सूत्रकृतांगकी मुनि श्री जंबूविजयजी की प्रस्तावना पृ० २८ ।

२ यहाँ तित्थोगाली मूलरूप में जैसा था उससे अभिप्राय है । उपलब्धमें तो शक १३२३ तक की भी चर्चा है-गा० ६२४ ।

३ मृत्यु वीर नि १७० ।

४ मृत्यु वीर नि० २१५ में ।

करके स्थूलभद्र के साथ विहार कर के पाटलिपुत्र आये (पृ० १८८) और वहीं स्थूलभद्र के द्वारा ऋद्धिप्रदर्शन होने के कारण उन्होंने दशपूर्वके आगे वाचना देनेका निषेध किया। अत एव चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु अकालके कारण उज्जैनी गये और अकालके ही कारण शिथिलाचार बढ कर संभेद हुआ यह जो दिगम्बर परंपरा को मान्यता है^१—वह विचारणीय हो जाती है। तित्थोगालीमें तो स्पष्ट लिखा है कि कुछ मुनि अकाल के कारण मगध से बाहर गये और कुलने अनशन कर लिया और जो बाहर गये वे भी यतनासे जीवनयापन करते रहे^२। सुकाल होने पर मगधमें जो वापस आये उनमें कोई मतभेद हुआ ऐसा कोई उल्लेख भी तित्थोगालीमें है नहीं। और दिगंबर परंपरा के लेखकों ने, जो निश्चित रूप से तित्थोगाली के बाद के हैं, अकाल के कारण ही वस्त्रग्रहण होने लगा या उस अकालमें वस्त्रग्रहण की प्रथा चल पड़ी—यह जो लिखा है वह तो निराधार ही प्रतीत होता है क्योंकि जहाँ खाना मिलना ही दुष्कर हो वहाँ वस्त्र सुलभ कैसे होगा? वस्त्र की प्रथा चालू हुई इसका कारण अकाल तो नहीं हो सकता। यह बात दिगंबर लेखकों के भी ध्यानमें आई है अतएव अपनी परंपराको सिद्ध करने के लिए कथा भी गढ ली कि नग्नको देखकर श्रविका का गर्भपात हुआ और उसीके कारण आगे चलकर अर्धकालक संप्रदाय चला^३—ऐसी कथाओं में सांप्रदायिक तथ्य हा सकता है, इतिहासका तथ्य नहीं। और इसी प्रसंगमें दिगंबर लेखकों द्वारा यह जो कहा जाता है कि अपने शिथिलाचारके अनुसार शास्त्र की रचना की यह भी निराधार है। विद्यमान शास्त्र को देखकर यदि यह आक्षेप किया जाय तो कुछ अंशमें औचित्य होगा। किन्तु उसे भद्रबाहु के कालके साथ जोडना तो असंगत ही है। क्यों कि विद्यमान श्वेताम्बर आगम पाटलिपुत्र की वाचना के अनुसार हैं यह तो श्वेताम्बर भी नहीं मानते। दूसरी बात यह भी है कि उज्जैन वाले भद्रबाहु और मगधके भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वी का ऐक्य भा संदिग्ध है। दो भद्रबाहु हुए ऐसा दोनों परंपरा मानती है और कथाकारोंने दोनों की कथाओं का मिश्रण कर दिया है यह प्रतीत होता है।

पाटलिपुत्रकी वाचना में एकादश अंग स्थिर हुए और स्थूलभद्रने दशपूर्व की वाचना आगे बढाई—इतना स्पष्ट है, किन्तु श्वेताम्बरों के अनुसार जो दूसरी वाचना मथुरामें करनी पडी—यही सिद्ध करता है कि पुनः नवनिर्माणकी आवश्यकता आ पडी थी। अत एव विद्यमान श्वेताम्बर आगमों को पाटलिपुत्रकी वाचना से भिन्न ही मानना चाहिए। अर्थात् ही पाटलिपुत्रकी वाचना से बचे हुए आगमों में ही परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन कर मथुरी वाचना हुई।

तित्थोगाली केवल अंगकी वाचना का ही निर्देश करता है। वह अंगवाह्यकी वाचना के विषयमें मौन है। स्पष्ट है कि उस काल तक भगवान के उपदेश का संकलन श्रुतरूपसे अंगमें ही माना गया था^४। इसका यह अर्थ तो नहीं कि उस काल तक अन्य ग्रन्थ नहीं बने थे। दशवैकालिक शायंभव^५ की रचना है। वह भद्रबाहु के पूर्वकी है और स्वयं भद्र-

१ देखे जै.सा. इ. पूर्वपीठिका, संभेद प्रकरण, पृ० ३७५ से।

२ यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि 'दुभिक्षमत्त' का उपयोग जैन मुनि नहीं कर सकते—ज्ञाताधर्मकथागत मेघकथा सू० ३१, सुत्तागमे पृ. ९६२।

३ जै.सा. इ पूर्वपीठिका पृ० ३७७।

४ देखें, समवाय १, २११-२२७। भगवती २५.३ ११५-११६।

५ तित्थोगाली गा० ७१२-७१४।

बाहुने भी दशा-कल्प-व्यवहार की रचना^१ की थी ऐनो श्वेताम्बर मान्यता है । किन्तु इन ग्रन्थों की वाचनाका कोई प्रश्न नहीं था । वाचना केवल अंगग्रन्थोंकी आवश्यक समझी गई थी । क्योंकि आगम या श्रुत अंगग्रन्थों तक सीमित था । आगे चलकर श्रुतविस्तार हुआ-अन्य आचार्यकृत ग्रन्थों को भी क्रमशः आगमकोटिमें लाया गया यह कहकर कि वे भी गणधर कृत हैं^२ ।

माथुरी वाचना

माथुरी वाचना भी पाटलिपुत्र की वाचना की तरह केवल अंगसूत्रोंके लिए ही हुई थी । नदी चूर्णि में अंग के लिए कालिक शब्द का प्रयोग है-पृ० ४६ । उतमें भी अंगवाह्य की वाचना या संकलनाका कोई उल्लेख नहीं है । माथुरी वाचना पाटलिपुत्रमें न होकर मथुरामें हुई यह सिद्ध करता है कि उस कालमें पाटलिपुत्र के स्थानमें मथुरा जैनों का विशिष्ट केन्द्र बन गया था । अर्थात् बिहार से हटकर अब जैनोंका प्रभाव उत्तर प्रदेशमें बढ़ गया था । यहीं से कुछ श्रमण दक्षिणकी ओर गये थे । जिसकी सूचना दक्षिणमें प्रसिद्ध माथुर संघ के अस्तित्व से मिलती है । यह भी एक कारण है कि दक्षिण के दिगंबरों के ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृतमें न होकर भी शौरसेनी भाषाके प्रभाव से मुक्त नहीं है । माथुरी वाचनाके प्रधान थे स्कंदिलाचार्य, वे परंपराके अनुसार वीरनि० ८२७ से ८४० तक युग प्रधान पद पर थे । इस काल तक अंगों के अलावा कई अंग वाह्य ग्रन्थ बन चुके थे किन्तु इसमें उनकी वाचना या संकलनाका प्रश्न नहीं था । इस अंगकी वाचना की आवश्यकता के विषय में दो मत हैं । एक यह कि कालिक श्रुत=अंग आगम अव्यवस्थित हो गया था । यह मत संभवतः दिगंबर परंपराके अनुकूल है । दूसरा यह कि उस काल में अनुयोगधरों का अभाव हो गया था, केवल स्कंदिल ही एक मात्र बचे थे^३ । स्पष्ट है कि दूसरे मतके उत्थान का प्रयोजन ही यह दीखता है कि जो कुछ उस वाचनामें किया गया वह नया नहीं किया गया, जो पुराना चला आ रहा था वही व्यवस्थित किया गया जिससे उसके प्रामाण्य में कोई कमी न हो । वास्तविक रूप से देखा जाय तो माथुरी वाचनामें ही परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन करके अंग सूत्रों को व्यवस्थित किया गया होगा । और इसी कारणसे उसके प्रामाण्यमें लोग शंका करने लगे होंगे । अतएव उसके निराकरणके लिए ही यह मत उतथित हुआ कि सूत्रमें कुछ नया नहीं किया गया-सूत्र नष्ट ही नहीं हुए थे या अव्यवस्थित नहीं हुए थे । केवल उनके जानकारों और व्याख्याकारोंकी कमी हो गई थी । इस प्रकार नये निर्माणको प्रामाण्य देना उस दूसरे मत का प्रयोजन सिद्ध होता है । यदि पाटलिपुत्रकी वाचना ही व्यवस्थित की गई होती तो उसके प्रामाण्यके विषयमें कुछ प्रश्न ही नहीं उठता और न इस दूसरे मत के उत्थान की आवश्यकता ही होती ।

१ दशवैकालिक और कल्प-व्यवहार को तो दिगंबरों ने भी अपनी अंगवाह्यसूची में स्थान दिया है -धवला पु.१, पृ० ९६ । जयधवला पृ० २५ ।

२ आगम संख्या किस प्रकार क्रमशः बढ़ी इसके लिए देखें-आगम युग का जैन दर्शन, पृ० २७ ।

३ देखें नदी कारिका ३२ और उसकी चूर्णि ।

४ नदी चूर्णि पृ० ९ ।

श्वेताम्बरों द्वारा मान्य अंग ग्रन्थ जो विद्यमान हैं वे माथुरीवाचनानुसारी हैं और उसमें जो परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन किया गया है—उसके विषयमें आगे चर्चा की जायेगी ।

माथुरीवाचना के अलावा नागार्जुनीय वाचना भी वलभी में हुई ऐसा निर्देश सर्वप्रथम कहावली में ही मिलता है । कहावली भद्रेश्वरकी रचना है और वह आ. हरिभद्र के बाद की रचना है । अतएव उस निर्देशका कारण यही हो सकता है कि कुछ चूर्णिओंमें नागार्जुनीय के नाम से पाठांतर मिलते हैं और पन्नवणा जैसे अंगवाह्य ग्रन्थमें भी पाठांतर का निर्देश है अतएव अनुमान किया गया कि नागार्जुन ने भी वाचना की होगी । यह सत्य है या केवल कल्पना इस विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि मौजुदा आगम (अंग-आगम) माथुरीवाचनानुसारी हैं । और उसमें तथ्य भी है । अन्यथा पाठांतरों में स्कंदिलके पाठांतरोंका भी निर्देश मिलता^१ । अंग और अन्य ग्रन्थों की ऐसी व्यक्तिगत कई वाचनाएँ हुई होंगी यह भी तथ्य है अन्यथा भगवतीआराधनाकी अरराजितकृत टीकामें आचारांगादि के जो पाठ उद्धृत किये हैं वे सभी उसी रूपमें विद्यमान आचारांग आदि में मिल जाते । किन्तु कुछ मिलते नहीं हैं—यह तथ्य है^२ । और यह भी तथ्य है कि आचारांगादि प्राचीन आगमों की चूर्णिमें जो पाठ स्वीकृत हैं उससे भिन्न पाठ टीकामें कई स्थानोंमें मिलता है । यह सिद्ध करता है कि अंग आगमों की वाचनाके एकाधिक प्रयत्न पाटलिपुत्रकी वाचनाके बाद हुए हैं । इतना ही नहीं प्रश्न्याकरण जैसे ग्रन्थ का तो संपूर्ण रूपसे परिवर्तन हो गया है और अंगों की कथाओं में भेद भी हो गया है^३ ।

अतएव इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन वाचनाओं द्वारा उपलब्ध मौलिक अंग आगम की सुरक्षाका प्रयत्न अवश्य हुआ है । साथ ही इतना भी मानना पडेगा कि सांप्रदायिक आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन भी किया गया है ।

आ० देवर्धिका पुस्तकलेखन

आ० देवर्धिने आगमोंको पुस्तकारूढ किया यह परंपरा तो हमारे समक्ष है किन्तु किन किन ग्रन्थोंको पुस्तकारूढ किया इसका कोई उल्लेख मिलता नहीं । नंदी में जो श्रुतकी सूची दी गई है वह हमारे समक्ष है किन्तु नंदी देवर्धिकी रचना नहीं है । ऐसी स्थितिमें नंदी की सूचीगत सभी ग्रन्थ देवर्धि द्वारा पुस्तकारूढ हुए थे यह नहीं कहा जा सकता । अतएव इसका निर्णय कठिन है कि वे कौन ग्रन्थ थे जो पुस्तकारूढ हुए । सामान्यतः इतना कहा जा सकता है कि अंगग्रन्थोंको तो पुस्तकारूढ किया ही होगा । अंगवाह्यमें जितने ग्रन्थ पूर्ववर्ती होंगे वे तो पूर्वकालसे पुस्तकारूढ होंगे ही । किन्तु विद्यमान आगमसूचिमें ऐसे कई ग्रन्थ हैं जो देवर्धिके बादकी रचना है, जैसे कि कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ । अतएव यह मानना पडता है कि श्वेताम्बर परंपरामें आगम कोटिमें समय समय पर नये नये ग्रन्थ संमिलित किये जाते रहें हैं । यही प्रक्रिया दिगंबर परंपरा में भी देखी जाती है । अन्यथा दिगंबर परंपरामें मूलाचार से लेकर विद्यानन्द तकके ग्रन्थ आगम के प्रामाण्य को कैसे प्राप्त होते ? पिछले वर्षोंमें षट्खंडागम

१ नंदी गा० ३२ (स्थविरावली) ।

२ विशेष के लिए देखें नीरनि० पृ० ११४ ।

३ जै. सा. इ. पूर्वपीठिका पृ० ५२५ ।

४ देखें स्थानांग-समवायांग (गुजराती) पृ० २४५ टि० १, पृ० २५६ टि० १,

२-१०, पृ० २५७ के टिप्पण ।

और कसायवाहुड मिलने के बाद इस प्रक्रियामें परिवर्तन देखा जाता है और सिद्धान्त ग्रन्थोंके रूपमें इन्हीं दोको आर उनकी टीकाओंको ही महत्त्व मिलने लगा है—जो उचित ही है।

श्रुतावतार

श्रुताम्बरोंमें आगमों, खासकर अंग आगमोंकी वाचना का जिक्र है जैसा कि हम ने इसके पूर्व कहा है। तो दिगंबरों में वाचनाका प्रश्न ही नहीं है क्योंकि उनके मतमें आगम-स्थानीय षट्खंडागम है और वह भूतबलि-पुष्पदंतकी रचना मानी जाती है। फिर भी किस प्रकार उत्तरोत्तर अंग आगमों का विच्छेद होता गया और अंतमें किस प्रकार उक्त दो आचार्योंने षट्खंडागम की रचना आंधरसेन से उपदेश प्राप्त कर की उस विवरणको श्रुतावतारके रूपमें दिया जाता है। नंदी आम्नाय पट्टावलीमें इन दो आचार्योंको एक अंग(आचारांग)घर कहा है (धवला भाग २, प्रस्तावना पृ० २६) और उनका समय वीरनि० ६८३ के बाद कभी है।

धवला टीकामें तो यह स्पष्ट किया है कि लोहार्य के बाद—“ततो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरियारंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो”—स्पष्ट है कि धरसेन आचार्य तक संपूर्ण अंग और पूर्वका विच्छेद नहीं था, उनका एकादेश धरसेन तक तो सुरक्षित था। उसी शेष अंश के आधार पर वीरनि. ६८३के आसपास षट्खंडागम की रचना मानी जाती है।

दोनों की तुलना

खास ध्यान देनेकी बात तो यहाँ यह है कि आचार्य धरसेन भी सौराष्ट्र में ही गिरनार की गुफा में थे और सौराष्ट्रके ही वलभी नगरमें श्रुताम्बरों के मतसे आगमों का पुस्तकलेखन हुआ। दिगंबरों ने वीरनि. ६८३ के बाद यह किया तो श्रुताम्बरों ने माथुरीवाचना जो वीरनि. ८२७-४० के बीच हुई उसका लेखन वीरनि. ९८० या ९९३ में पूर्ण किया^१। स्पष्ट है कि दोनोंमें जो करीब ३०० वर्ष का अन्तर है उसीके कारण श्रुताम्बरोंमें आगमों की संख्या बढ़ गई इतना ही नहीं किन्तु उस संप्रदायकी मान्यताओं की पुष्टि का भी उन्हें अवसर मिला। इन्हीं ३०० वर्षोंमें जो अन्य दिगम्बर ग्रन्थ बने उनमें भी यही प्रक्रिया अपनाई गई और दिगम्बर मान्यताओं को पुष्ट किया गया।

वीरनि० ६८३के बाद रचे गये षट्खंडागममें प्रतिपाद्य जो विषय है उसमें श्रुताम्बरोंका कोई मतभेद नहीं है। यही सिद्ध करता है कि उस समय तक जो श्रुत सिद्धान्त था उसमें श्रुताम्बर दिगम्बरमें कोई भेद नहीं था। स्त्री-मुक्ति जैसे विषयमें जो श्रुताम्बर-दिगम्बरमें आज सैद्धान्तिक मतभेद हमारे समक्ष है—वह भी नहीं था। अर्थात् दोनों उस काल तक स्त्री-मुक्ति मानते थे। यह सिद्ध करता है कि पारंपरिक सिद्धान्त दोनोंमें सुरक्षित थे। उसके बाद ही बस्त्रके आचारको लेकर जो मतभेद दृढ़ होता गया उसी के फलस्वरूप स्त्री-मुक्ति का निषेध भी

१ वस्तुतः षट्खंडागम जैसा उपलब्ध है वह न तो एक काल की रचना है और न एक आचार्य की रचना है। कई प्रकरणों का उसमें समावेश है जो निश्चित रूपसे एक काल की रचना नहीं। विशेषतः पुस्तक १३ गत सूत्रों से सूचित होता है कि यह अनुयोग प्रकृति इतः पूर्व षट्खंडागम में नहीं देखी जाती।

२ यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है—कि धरसेन को आचार्य परंपरासे प्राप्त था तो ६८३ के बाद कितने आचार्य समझे जाय ?

३ लेखनका यह काल कलसूत्रगत उल्लेखके आधार पर ही माना जाता है किन्तु यह भी विचारणीय है कि यह आगमलेखनकाल है या नहीं।

दिगम्बरो में दृढ़ होता गया । और स्त्रीमुक्तिकी स्थापना यापनीयो में और श्वेताम्बरोमें दृढ़ होती गई ।

आचार्य उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र भी इस बात का साक्षी है कि वह दोनों संप्रदायों के द्वारा इसी लिए अपनाया गया है कि उसमें भी मौलिक जैनागमों के सिद्धान्तका निरूपण है । उसी की टीकाएँ जो लिखी गईं उनमें दोनों संप्रदायों ने अपनी अपनी मान्यताओं का निरूपण करनेका यत्र तत्र प्रयत्न किया है किन्तु मूल तत्त्वार्थसूत्र में दोनों संप्रदायों की मान्यता की एकरूपता स्पष्ट होती है ।

दिगंबरो को मान्य मूलाचार^१ जो आ. वट्टकेर या कुन्दकुन्दकी कृतिरूप से माना जाता है उसमें भी स्त्रीमुक्तिका समर्थन देखा जाता है । यह भी सिद्ध करता है कि उस विषय में सैद्धांतिक मतभेद की जड़ उसके बाद ही कभी हुई है । उसमें लिखा है—

“एवंविधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ ।

ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्जंति ॥

मूलाचार ४. १९६, पृ० १६८ ।

मौलिक निर्युक्ति में भी स्त्री-मुक्ति का प्रश्न चर्चित नहीं है । मूलनिर्युक्तिमें बोटिक निहव का भी उल्लेख नहीं है जो बाद में उसमें जोड़ा गया यह इस लिए स्पष्ट है कि उत्तराध्ययनमें निहवों सम्बन्धी जो गाथा है, उसमें बोटिक निहव का उल्लेख नहीं है । यह उल्लेख बाद में आवश्यकनिर्युक्ति में जोड़ा गया है—इससे यह स्पष्ट है । क्यों कि आवश्यकनिर्युक्ति के निर्माण के बाद ही उत्तराध्ययननिर्युक्ति का निर्माण हुआ है फिर भी उसमें यह निहव न पाया जाय तो स्पष्ट होता है कि आवश्यकनिर्युक्ति में ही यह बादमें जोड़ा गया । और ठाणंग में भी सात ही निहवों का उल्लेख है — ठाण ७४४ । स्थानांग-समवायांग पृ. ३२७-३३५ । उत्तरा. नि० गा० १६४ से । आवश्यक नि० गा० ७७८ से ।

आगम कब कितने ?

अंग आगम बारह^२ हैं— इस मान्यता को स्थिर होनेमें भी समय गया होगा । इसके प्रमाण स्वयं श्वेताम्बरो के आगम ही दे रहे हैं । स्वयं प्रथम भद्रबाहु के समय तक बारह अंगों की स्थापना, प्रामाण्य और स्वाध्याय की प्रक्रिया शुरू हो गई थी—इसमें भी संदेह है । क्यों कि व्यवहारसूत्र^३ जो श्वेताम्बरके अनुसार स्वयं भद्रबाहु की रचना है उसमें जो स्वाध्याय-क्रम दिया है उसमें बारह अंगों से कुछ ही हैं । लेकिन समय बीतने पर बारह अंग श्रुत है यह मान्यता स्थिर हो गई^४ । क्यों कि यह बात श्वेताम्बर ओर दिगंबर

१ ‘मूलाचार’ में बादमें काफी वृद्धि हुई है यह भी ध्यानमें रखना आवश्यक है । पूरी को पूरी कृति न एक काल की है न एक कर्ता की । किन्तु संग्रहग्रंथ है ।

२ बारह अंग की बौद्ध मान्यता के लिए देखें, श्री जंबूविजयजो संपादित आचारांग पृ० ४०२ । वहां भी नव अंग में से बारह की कल्पना की है । नव का निर्देश स्थविरवाद में, बारह का निर्देश महायान में है ।

३ व्य० उ० १० सू० २९७-३१२ ।

४ सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंधमें ६६१ में ईश्वरकारणिक की चर्चा के समय—“दुवालसंगं गणिपिडंगं” का उल्लेख सर्व प्रथम आता है ।

दोनों को मान्य है अतएव यह कहा जा सकता है कि सम्प्रदायभेद होने के पूर्व यह व्यवस्था हो गई थी। अंगके बाद अंगबाह्य आगमका प्रश्न है। उत्तराध्ययन में ग्यारह अंग, अंगबाह्य, प्रकीर्णक और दृष्टिवादका उल्लेख हैं—२८.२१, २३। आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्यमें अंगबाह्य में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्यारख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ, ऋषि-भाषितादि—का उल्लेख है। नामतः १३ की गिनती की गई और 'आदि' से अन्य भी अभिप्रेत होंगे। यही सूची थोड़े परिवर्तन के साथ धवलामें है जहाँ १४ अंगबाह्य नामतः गिनाये गये हैं। इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि यह सूची सामायिक आदि पृथक् छः प्रकरण ग्रन्थों का समावेश 'आवश्यक' नाम से किया गया उसके पूर्वकी है। अतएव उरुहालिक अंगबाह्यके आवश्यक और तद्व्यतिरिक्त इस प्रकार का जो विभाजन श्वेताम्बरों में हुआ इसके भी पूर्वकी यह सूची है—ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार का विभाजन नंदी (सू० ७८, पृ० ५७) और अनुयोग-द्वारसूत्र में (सू० ५, पृ० ६०) है।

स्थानांग-समवायांग में अंगबाह्य माने जाने वाले ग्रन्थों में से—केवल क्षुद्रिकाविमान-विभक्ति, महाविमानविभक्ति, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशा-कल्प-व्यवहार, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का उल्लेख है—(गुजराती अनु० पृ० २६२-२६३।) और इन चार दशाओं—बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा, संक्षेपित दशा (पृ० २५६) का भी उल्लेख है किन्तु टीकाकार का कहना है कि इनके विषय में हम कुछ नहीं जानते।

तित्थोगाली में जहाँ श्रुतविच्छेद की चर्चा है वहाँ बारह अंग के उपरान्त निम्न श्रुत का उल्लेख है—कल्प-व्यवहार, दशा, निशीथ, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, अनुयोगद्वार और नंदी—इससे पता चलता है कि उसके काल तक इन ग्रन्थों का आगम में समावेश होगा। इसमें चन्द्र आदि चार प्रज्ञप्तिओं का उल्लेख नहीं यह सूचित करता है कि अब तक उनका आगमकी कोटि में समावेश नहीं था। अतएव स्थानांग-समवायांग में उनका उल्लेख जो मिलता है वह कालक्रम से आगमकोटि में उन्हें स्थान मिला यह सूचित करता है।

इसके बाद होनेवाली आगमों की सूची के विषय में मैंने अन्यत्र चर्चा की है उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है।^१ आगमकी संख्या क्रमशः बढ़ी है इतना दिखाना ही यहाँ अभिप्रेत है।

आगमों के वर्गीकरण के विषय में भी मैंने अन्यत्र चर्चा की है अतएव उसे भी यहाँ दोहराना आवश्यक नहीं^२।

आगमों में चर्चित विषयों का क्रमिक विकास

इसमें तो संदेह को कोई स्थान नहीं है कि आगमों में प्राचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध सबसे प्राचीन स्तर है। उसके बाद क्रम में आता है सूत्रकृत का प्रथम श्रुतस्कंध। और वह भी आचारांग में प्रतिपादित विषयों का मानों विवरण हो ऐसा है। अतएव ये दोनों हमें भ. महावीर के मौलिक उपदेश की झलक देने में समर्थ हैं। उन दोनों में श्रमणधर्म को

१ चन्द्र, सूर्य और जंबूद्वीर इन तीन प्रज्ञप्तिओं का समावेश दिगंबर मतसे दृष्टिवाद में है। धवला पु.२, प्रस्तावना पृ० ४३।

२ जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, प्रस्तावना पृ० ३४ से।

३ वही पृ० ३३ से।

ही महत्त्व दिया गया है। गृहस्थधर्म की तो केवल निंदा ही है। आगमगत इसी प्राचीन मान्यता में क्रमशः जो परिवर्तन आया वह अन्य आगमों की तद्विषयक चर्चा से स्पष्ट होता है। आगे चलकर गृहस्थ या उपासक वर्ग का निर्माण हुआ और उनको भी जैन संघ में स्थान मिला। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।

श्रमणों के आचार का विवरण देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि नियम रूप से पांच महाव्रतों के स्वीकार की कोई चर्चा आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में नहीं है। सूत्रकृत प्रथमस्कंध की एक गाथा में प्राणातिपातादि पांच दोषों का उल्लेख एक साथ है और कहा गया है कि 'जिणसासण परंमुहा' जो हैं वे इन दोषों का पोषण स्त्री के वश होकर करते हैं (२३२-२३३) किन्तु इस प्रकार पांचों दोषों का कोई उल्लेख एक साथ आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध में नहीं है। और नहीं एक साथ उनकी विरति की चर्चा आचारांग में है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रमणों को पांच महाव्रत का स्वीकार करना चाहिए— यह प्रक्रिया कालक्रम से जैन संघ में आई है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों यह मानते हैं कि प्रारम्भ में श्रमण सामायिक व्रत का स्वीकार करते हैं। इससे भी सूचित होता है कि श्रमण बनने की यही प्रक्रिया थी और सूत्रकृत में तो स्पष्ट ही लिखा है कि भगवान महावीर ने ही सर्व प्रथम सामायिक का उपदेश दिया —

“ण हि णूण पुरा अणुस्सुयं अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।

मुणिणा सामाइ आहियं णाएण जगसन्वदंसेणा ॥ सूत्रकृत-१४१.

आचारांग के उपदेश का सार देखना हो तो यही है कि संसार में षड्जीवनिकाय हैं। वे सभी सुख चाहते हैं दुःख कोई नहीं चाहता, मरना कोई नहीं चाहता, अतएव किसी भी प्राणी या जीव को पीड़ा देना नहीं चाहिए। जैसा मुझे सुख प्रिय है, सभी को सुख प्रिय है अतएव किसी को पीड़ा देना नहीं चाहिए—यही समताभाव है—जो सामायिक है। इसी प्रश्न को लेकर भगवान का उपदेश हुआ। इसी अहिंसा में से सत्यादिका स्वीकार हुआ। सूत्रकृतांग के प्रारम्भ में ही भगवान महावीर ने यह कहा है कि परिग्रह ही बन्धन है और उसी के कारण जीव हिंसा आदि का आचरण करता कराता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सब पापों का मूल भ. महावीर की दृष्टि में परिग्रह को ही माना गया। और यही कारण है कि उन्होंने अपने श्रमण जीवन में नग्नता का स्वीकार किया और अचेलधर्म का प्रतिपादन किया। यह स्वाभाविक है कि यह कठोरतम धर्म था जिसकी निंदा भ. बुद्ध ने की है। जिस प्रकार अतिभोग एक एकांत है उसी प्रकार भोग का आत्यंतिक त्याग—आत्मा को अतिकष्ट देना—भी दूसरा एकान्त है। अतएव भ. बुद्ध ने तो दोनों अंतोंको छोड़कर मध्यम मार्ग का स्वीकार किया। यही कारण है कि जैन श्रमण परम्परा में भी भ. महावीर का आत्यंतिक अचेलक मार्ग पनपा नहीं और श्वेताम्बर संप्रदाय या सचेलक सम्प्रदाय का उद्भव हुआ है। दिगम्बरों में भट्टारक सम्प्रदाय भी इसी बात की पुष्टि करता है कि आत्यंतिक कष्ट का मार्ग सबके लिए प्रशस्त नहीं है। हम भले ही मध्यममार्ग को शिथिलमार्ग कह करके उसकी निंदा करें किन्तु सर्वजन सुलभ तो

१ “सब्बं मे अकरणिज्जं पापकम्मं ति कट्ठु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ” आचारांग श्रु०
२ अ० १५, सु० १०१३ (महावीरचरित)

२ सूत्रकृतांग में भी नग्नता की ही प्रतिष्ठा श्रमण के लिए निर्दिष्ट है—“जस्सडाए कीरइ नगभावे मुंडभावे” सु० ७१४, पृ० १८५ ।

यही मार्ग हो सकता है। और जैन श्रमण परम्परा का इतिहास भी इसकी पुष्टि करता है कि अनेक बार अति उत्कट क्लेश के मार्ग को अपनाने का प्रयत्न हुआ किन्तु उसमें सफलता कुछ समय तक ही सीमित रही है। उस अन्तिम आदर्श की तारीफ अवश्य करें किन्तु मध्यम-मार्ग को निंदा तो न करें—यही उचित हो सकता है।

षड्जीवनिकाय का उपदेश^१ भ. महावीर का प्रतिपाद्य रहा। उन्होंने कहा है कि ये जीव बन्धनों में पड़ कर नाना दिशाओं में जन्म ग्रहण करते हैं और पुनर्जन्म की परंपरा चलती है। इस पुनर्जन्म की परंपरा को निरस्त करना, मोक्ष प्राप्त करना—यही जीवन का उद्देश्य है। अत एव आगे चलकर जीवविद्या का विकास उक्त दोनों आगमों के बाद के आगमों में देखा जाता है। वह सारा का सारा विकास जो हम देखते हैं वह स्वयं भ. महावीर की देन है यह नहीं कहा जा सकता। आचार्यों ने उस विषय की व्याख्या की तब जीव का स्वरूप—उसकी नाना प्रकार की गति—उसकी स्थिति—उसके भेद इत्यादि विवरण हमें अन्य आगमों में क्रमशः विकसित रूप में मिलते हैं^२। जीव की विविध गति के सन्दर्भ में ही भूगोल खगोल के विषय में भी आचार्यों ने सोचा और तत्काल में जो उस विषय की विचारणा आर्यों में चलती थी उसका अपनी दृष्टि से समावेश अपने शास्त्र में किया^३। अतएव उसका भ. महावीरकी सर्वज्ञता से कोई संबन्ध नहीं है।

इसी प्रकार काल का उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी आदि भेद और उनमें तीर्थकरों के उद्भवकी चर्चा भी आगमों में कालक्रम से ही आई है^४। वैदिकों के युगों की कल्पना को समक्ष रखकर यह व्यवस्था जैनाचार्यों ने सोची है। अतएव इसे भी भ. महावीर के मौलिक उपदेशके साथ जोड़ना जरूरी नहीं है।

जैनों की विस्तृत कर्मविचारणा और गुणस्थान की विचारणा भी क्रमशः ही विकसित हुई है। कर्मरज^५ है, कर्मशरीर^६ है और वह आत्मा का बन्धन है—इससे मुक्ति पाना ही मोक्ष या निवर्ण^७ है और यही जीव का ध्येय है—इतनी सामान्य बातका निर्देश तो मौलिक विचार के रूप में भ. महावीर का है। किंतु कर्म के प्रकार और उनके प्रदेश-स्थिति-अनुभाव आदि का जो विस्तृत निरूपण हम आगमों में देखते हैं वह मौलिक उपदेश का आचार्यों द्वारा किया गया विकास है और उन्हें भी क्रमशः आगम में स्थान मिला है। चौदह गुणस्थान की चर्चा तो उमास्वाति आचार्य तक भी विकसित नहीं हुई थी यह भी तत्त्वार्थसूत्र (९.४७) से स्पष्ट होता है। अतएव उन्हें भ. महावीर के मौलिक उपदेश में शामिल नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि आगे चलकर हम परम्परा में सैद्धांतिक और कार्मग्रन्थिक ऐसे भेदों को देखते हैं।

१. आचा० अ०१।

२. विशेषतः देखें प्रज्ञापना—सूत्र।

३. जीवाजीवाभिगम, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति, आदि।

४. जम्बूद्वीपपणक्ति व० २, जीवाजीवाभिगम सूत्र १७३, १७८

५. भ. महावीर को 'धूतरण' कहा है, सूत्रक० २९९।

६. आचा० ९९।

७. सूत्रक० ३६६।

यहाँ तो मैंने स्थूलरूप से क्रमिक विकासका निर्देश किया है। इसका व्यवस्थित निरूपण तो पुस्तक का विषय हो सकता है—व्याख्यान का नहीं। जैनदर्शन के विकास की रूपरेखा में इसकी चर्चा संक्षेप में करूँगा।

भ. महावीर के मौलिक उपदेश का जो मैंने निर्देश किया और उसी का विकास जो आचार्यों ने किया उसका जो संक्षिप्त विवरण मैंने दिया है उसके आधार की चर्चा भी करना उपयुक्त होगा।

मैंने इतः पूर्व वाचनाओं का निर्देश किया है। माथुरीवाचनांतर्गत अंग ग्रन्थ जो हमें उपलब्ध है उसी के आधार पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ। जितने भी अंगब्राह्म्य ग्रन्थ हैं, खास कर उपांग, उन्हें यदि देखा जाय तो उनमें 'अंग आगम से हमने यह बात कही है और उसके लिए अमुक अंग आगम देखे' ऐसा निर्देश नहीं आता। पन्नवणा के प्रारम्भ में उसे दृष्टिवाद का निरस्यंद कहा है किन्तु तदतिरिक्त जो अंग आगम आचार आदि हैं उनका साक्षी के रूप में निर्देश नहीं आता। दृष्टिवाद से उद्धरण की बात की चर्चा एक अलग व्याख्यान का विषय हो सकता है—सामान्य रूप से मैं यहाँ इतना कह देना चाहता हूँ कि क्योंकि दृष्टिवाद का विच्छेद माना गया था किसी भी नयी बात को आचार्य को कहना हो तो दृष्टिवाद से मैंने यह बात कही है—यह कह देना आसान था। जैसे वैदिकों ने उत्सृष्टि का आश्रय लेकर कई नई परम्परा को चलाया है—यही प्रक्रिया जैनो में भी देखी जाती है।

किन्तु माथुरीवाचनान्तर्गत अंग आगमों में जैसे कि भगवती—व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे बहुमान्य आगम में भी जहाँ भी विवरण की बात है—वहाँ अंगब्राह्म्य उपांगों का—ओपपातिक, पन्नवणा, जीवाजीवाभिगम आदि का आश्रय लिया गया है। यदि ये विषय मौलिक रूप से अंग के होते तो उन अंगब्राह्म्यों में ही अंगनिर्देश आवश्यक था। ऐसा न करके अंग में उपांग का निर्देश वह सूचित करता है कि तद्विषयकी मौलिक विचारणा उपांगों में हुई है। और उपांगों से ही अंग में जोड़ी गई है।

यह भी कह देना आवश्यक है कि ऐसा क्यों किया गया। जैन परंपरा में यह एक धारणा पक्की हो गई है कि भगवान महावीर ने जो कुछ उपदेश दिया वह गणधरों ने अंग में प्रथित किया। अर्थात् अंगग्रन्थ गणधरकृत हैं, और तदितर स्थविरकृत हैं। अतएव प्रामाण्य की दृष्टि से प्रथम स्थान अंग को ही मिला है। अतएव नयी बात को भी यदि प्रामाण्य अर्पित करना हो तो उसे भी गणधरकृत बताना आवश्यक था। इसी कारण से उपांग की चर्चा को भी अंगांतर्गत कर लिया गया। यह तो प्रथम भूमिका की बात हुई। किन्तु इतने से संतोष नहीं हुआ तो बाद में दूसरी भूमिका में यह परम्परा भी चलाई गई कि अंगब्राह्म्य भी गणधरकृत है और उसे पुराण तक बढ़ाया गया। अर्थात् जो कुछ जैन नामसे चर्चा हो उस सबको भ. महावीर और उनके गणधर के साथ जोड़ने की यह प्रवृत्ति इसलिए आवश्यक थी कि यदि उसका सम्बन्ध भगवान और उनके गणधरों के साथ जोड़ा जाता है तो फिर उसके प्रामाण्य के विषय में किसी को संदेह करने का अवकाश मिलता नहीं है। इस प्रकार चारों अनुयोगों का मूल भ. महावीर के उपदेश में ही है यह एक मान्यता दृढ़ हुई। इसके कारण बीसवी सदी

१ अखाद है जहाँ भगवती के पंचम शतक के दशवें उद्देश का उल्लेख है—जंबुद्वीप पणत्ति सु० १५०।

में लिखने वालों का भी यही आग्रह रहता है कि वह जो कुछ कह रहा है वह भ. महावीर के उपदेश का ही अंश है। नतीजा यह है कि साधारण मनुष्य विवेक नहीं कर सकता कि भ. महावीरने क्या कहा और क्या न कहा। यह विवेक मूलग्रन्थों के तटस्थ अभ्यास के द्वारा ही हो सकता है और इसी ओर ध्यान दिखाना ही मेरा प्रस्तुत व्याख्यान का उद्देश्य मैंने माना है। और संक्षेप में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनका मौलिक उपदेश क्या था। विद्वानों से मेरा निवेदन है कि वे इस दृष्टि से अपने संशोधन में आगे बढे।

— ० —

जैन दर्शनका उद्भव और विकास

आगम और तर्क

प्रथम व्याख्यान में मैंने विशेषतः जैनागम की चर्चा की है, और व्याख्यान के अन्त में मौलिक उपदेश जो भ. महावीर का था उसमें क्रमशः किस प्रकार का आगमों में विकास हुआ इसकी अति संक्षिप्त रूपरेखा मैंने दी है। प्रस्तुत द्वितीय व्याख्यान में विशेष रूपसे अति प्राचीन माने जाने वाले आचारांग और सूत्रकृतांग को आधार बना कर जैनदर्शन की प्राचीनतम भूमिका क्या थी इसे थोड़ा विस्तार से दिखाने का प्रयत्न है और अन्त में उस मूल भूमिका को आधार बनाकर किस प्रकार समग्र जैन दर्शन उत्तरोत्तर विकसित हुआ इसकी संक्षिप्त रूपरेखा दी है।

‘आगम युगका जैनदर्शन’ जो पृथक् पुस्तक रूप में मुद्रित है, मैंने न्यायावतारवृत्ति की प्रस्तावना में लिखा था किन्तु वहाँ जो कुछ लिखा गया था वह जैनागमगत जैनदर्शन के विकसित रूपको लेकर था अर्थात् आगमकालीन जैनदर्शन के द्वितीय स्तर की चर्चा थी। किन्तु प्रथम स्तर कैसा था इसका विवेचन उसमें नहीं था। अतएव यहाँ उसकी पूर्वभूमिका देने का अवसर मैंने प्रस्तुत व्याख्यान में लिया है। अतएव उसमें जैनदर्शन की जो भूमिका दी गई है उसे ध्यान में लेकर ‘आगमयुग का जैनदर्शन’ का अध्ययन करना चाहिए। ऐसा होने पर ही जैनदर्शनके आगमिक क्रमिक विकास की रूपरेखा अवगत हो सकेगी।

ध्यान में रहे कि यह भी रूपरेखा ही है। इसमें विवरण का अवकाश है, किन्तु व्याख्यान में तो रूपरेखा ही हो सकती है। विवरण तो पुस्तक का विषय होगा।

आगमकालीन जैनदर्शन की एक विशेषता स्पष्ट है कि उसमें मन्तव्य के लिए तर्क का आश्रय कम लिया गया है। अधिकांश में आप्तवचन ही प्रमाण मानकर तत्त्वों का और उसके स्वरूप का निर्देश किया गया है। उनकी तर्क से सिद्ध अन्यदर्शनों के संदर्भ में करने का काम आगमकाल में नहीं हुआ। वह तो दार्शनिक काल में हुआ। जैनशास्त्रों में यह काल कब से शुरू हुआ इसकी खोज की जाय तो आगमों की टीकाओं में निर्युक्ति-चूर्णि-भाष्यों में तार्किक चर्चा का प्रारम्भ हो गया है। किन्तु अभी तक उनका स्वतंत्र अध्ययन करना बाकी ही है। सामान्य तौर पर जैनदर्शन के इतिहास की बात आती है वहाँ सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि से तार्किक जैनदर्शन के प्रारम्भ की चर्चा की जाती है। किन्तु यह वास्तविक नहीं है। सिद्धसेन आदि से भी पूर्व और आगम के बाद जैनदर्शन की क्या स्थिति थी इसके जानने का साधन आगमों की निर्युक्ति आदि प्राचीन टीकाएँ हैं और उनका अध्ययन अभी तक बाकी है। इसके होने पर ही जैनदर्शन के विकास को पूरा इतिहास हमारे समक्ष आ सकता है।

अन्य दर्शनों के संदर्भ में आगम में अपने तत्त्वों की चर्चा तो है किन्तु वहाँ इतना ही कहा गया है कि उनकी मान्यताएँ ठीक नहीं। किन्तु क्यों ठीक नहीं, उसके पाछे क्या तर्क है—इसका निर्देश नहीं। अतएव तर्कपुरःसर दार्शनिक चर्चा आगम में नहीं है और आगमके टीकाकारों और सिद्धसेन आदि ने यह स्पष्टरूप से की है। अतएव आगम और तार्किकों के जैनदर्शन के विवरण की भेदरेखा यही है कि एक आप्तवाक्य को प्राधान्य देता है जब कि दूसरे आप्तवचनों की यथार्थता की सिद्धि तर्क से करते हैं। इस भेदरेखाके अपवाद

भी हैं। जैसे आचारांग जहाँ वनस्पतिमें जीवकी सिद्धि की गई है। और राजप्रश्रीय जहाँ जीव की सिद्धि अनेक तर्क देकर करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु यह विषय ऐसा है जो प्राचीन काल से तर्कका विषय बना हुआ है अतएव आगम में भी उस विषय में तर्क देखा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

अंगोंमें चरणानुयोग का प्राधान्य

अंग आगम द्रव्यानुयोगप्रधान नहीं हैं किन्तु चरणानुयोगप्रधान है यह मान्यता निर्युक्तिकाल तक रही है और चूर्णियों में भी उसका समर्थन मिलता है। अतएव मौलिक अंग आगममें प्रमेयतत्त्वों के विषयमें विशेष विचार नहीं हुआ होगा यह मानना पड़ता है। अतएव यहाँ बिन दो अंग आगमों में—आचारांग और सूत्रकृतांग में जैनदर्शन की खोज की जा रही है उसमें दार्शनिक विचार खासकर द्रव्यानुयोगका विचार कम ही मिल सकता है, क्योंकि इनका विषय मुख्यरूप से आचारको विद्युद्धिने दिखाना यही है। फिर भी जो कुछ भी मिलता है उसीका संग्रह यहाँ करनेका प्रयत्न किया गया है।

आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध में दर्शनका रूप

आगम के दर्शन का विचार करें तो हमें पुनः यहाँ भी कहना पड़ेगा कि दर्शन का प्राचीनतम रूप आचारांग^१ और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंधों के आश्रयसे ही स्पष्ट हो सकता है। प्राचीन उपनिषदों के बादके हमारे आगम हैं यह तो निर्विवाद है। उपनिषदों में किसी एक तत्त्वसे जगत का निर्माण है। अर्थात् वहाँ अनेक प्रकार की त्रिचरणा हो करके यही तय पाया गया कि तत्त्व तो एक ही है और वह हैं आत्मा या ब्रह्म। उसीका प्रपंच यह जगत है। इसके विरुद्ध जैन और बौद्ध ने तत्त्वों को नाना माना। बौद्धों के मतसे पंचस्कंध और संक्षेप में कहना हो तो नाम और रूप दो तत्त्व फलित होते हैं। बौद्ध मतसे आत्मा या जीवस्थानीय चित्त है और उसीको नाम कहा गया है। रूपसे जड पदार्थ की सूचना मिलती है। आचारांग में भी चित्त, चित्तमत्त, जीव, आत्मा^२ ये शब्द चेतन पदार्थ के लिए प्रयुक्त हैं। और अजीव के लिए अचित्त, अचेतन शब्द का प्रयोग है^३। किन्तु 'अजीव' शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता। तात्पर्य यही है कि इस कालमें 'जीव' और 'अजीव' यह परिभाषा स्थिर नहीं हुई है। जीवके लिए भी प्राण, भूत और सत्त्व ये शब्द भी प्रयुक्त हैं जो कालक्रमसे छोड़ दिये गये। क्योंकि जीवके प्राण होते हैं और भूत से तो जड पदार्थ लोगमें समझा जाने लगा था। सत्त्व भी निश्चित अभिप्रेत अर्थ देने में समर्थ नहीं था। अतएव जब तत्त्व या पदार्थ की गणना का प्रश्न आया वहाँ जीव और अजीव ये शब्द ही कालक्रममें अपनाया गया।

आत्मा के लक्षण में कहा गया है—“जे आता से विण्णाता, जे विण्णाता से आता, जेण विजाणति से आता” —आचा० १७१। इसके बादके सभी ग्रन्थों में इसके स्थान में 'उपयोग' को जीव का लक्षण कहा गया है। यह प्रगति का सूचक है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन दोनोंका सनावेश जीवलक्षणमें करना अभिप्रेत हो गया था।

१ सूत्रकृ० चूर्णि पृ० ३। आवश्यकनि.मू. भाष्यगाथा १२४, नि.गा. ७७७ (हा०)।

२ आचारांग की निर्युक्ति में वेद संज्ञा दी गई है। आचा० नि० गा० ११।

३ आचारांगसुत्तं (महा०वि०) गत शब्दसूची देखें।

४ यह विचार भी उपनिषद के अनुकूल है जहाँ विज्ञानमय आत्मा माना गया है। उपनिषद्वाक्य महाकोष पृ० ५७०।

जीवका अस्तित्व क्यों माना जाय इसकी चर्चा आचारांगमें नहीं है। किन्तु वनस्पति जीव है इस के लिए युक्त देनेका प्रयत्न किया गया है। उससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवका अस्तित्व किस आधार पर माना जा सकता है। आचारांगमें कहा है कि जिस प्रकार यह अर्थात् प्रत्यक्ष ऐसा मनुष्य शरीर जन्म लेता है, वृद्धि प्राप्त करता है, सचित्त है, छिन्न होने पर फिर घाव भर जाता है और आहार लेता है—उसी प्रकार वह=वनस्पति भी जन्म आदि को प्राप्त है^१। अतएव वह भी जीव है।^२

पृथ्वी आदि जीव यद्यपि चक्षुरादिविहीन हैं फिर भी उनमें वेदना होती है। जिस प्रकार अन्ध पुरुष में उसके विविध अंगों का छेदन भेदन होने से वेदना होती है। ऐसी भी एक दलील स्थावर जीवों में चैतन्य के लिए दी गई है।^३

परिग्रहकी चर्चा के प्रसंग में समग्र परिग्रहका जो विभाजन किया गया वह है—“से अप्पं वा वं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा” आचा० १५४। इससे भी स्पष्ट है कि सचित्त और अचित्त यही विभाजन पदार्थों का है। और यदि इस विभाजनगत ‘चित्त’ की अपेक्षा न की जाय तो स्थूल और अणु में समग्र पदार्थ विभक्त हैं।

ज्वके भेदों में पृथ्वी,^४ उदक,^५ अग्नि,^६ वनस्पति,^७ त्रस^८ (त्रसके भेदों में अण्डज आदिका उल्लेख है) और वायु^९ का उल्लेख है और इन सबकी सामान्य संज्ञा है—षड्जीवनिकाय^{१०}। आचारांग में जीवके स्थावर और त्रम ये भेद हैं^{११} और स्पष्टरूपसे कहा है कि ये पृथ्वी आदि चित्तमंत हैं अर्थात् सजीव हैं—

“पुढ्विं च आउकायं च तेउकायं च वायुकायं च ।

पणगाइं बीयहरियाइ तसकायं च सव्वसो णच्चा ॥

एताइं संति पडिलेहे चित्तमंताइं से अभिण्णाय ।

परिवज्जियाण विहरित्था इति संखाए से महावीरे ॥” आचा० २६५-२६६।

पुनर्जन्मकी प्रक्रिया सुकृत-दुष्कृत के अनुसार ही होती है यह जैनदर्शन का सिद्धान्त भी आचारांग की निम्न गाथा से स्पष्ट होता है। अर्थात् ही नियतिवादी की तरह यह नहीं माना की पुनर्जन्म का क्रम जीवों के विकसित स्वरूप के क्रमको लेकर नियत है। वह तो जीवों के कर्मानुसारी होता है। मनुष्यजन्म पाकर भी उससे नीची योनि में जा सकता है और ऊँची योनि में भी। गाथा है—

१ आचा० ४५ ।

२ आचा० चूर्णि में इसका उत्थान है “लक्खणावसिद्धत्थं भण्णति—इमं पि जाइघम्मं, इमं ति मणुस्सरीरं” —पृ० ३४-३५ ।

३ आचा० १५ । आचा० चूर्णिमें लिखा है कि “जे ण पस्संति ण सुणंति तेसिं कहं वेदणा उप्पज्जइ ? से बेमि...” पृ० २३ ।

४. आचा० १२ ।

५. आचा० २३ ।

६. आचा० ३४ ।

७. आचा० ४२ ।

८. आचा० ४९ ।

९. आचा० ५७ ।

१०. आचा० ६२ ।

११. आचा० २६७ ।

“अदु थावरा य तसत्ताए तसजीवा य थावरत्ताए

अदु वा सब्वजोगिया सत्ता कम्मणा कप्पिया पुढो बाला ॥” आचा० २६७

‘संसारमें जन्म और मृत्यु की परंपरा है और जीव नाना दिशाओं से आकर जन्म धारण करता है और मृत्यु के बाद नाना दिशाओं में जाता है। कर्म के कारण ही जीव का परिभ्रमण होता है अतएव कर्म समारंभ का परित्याग करना जरूरी—है इस बातको जो मानता है वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है’ यह स्पष्टीकरण आचारांग के प्रारंभ में ही किया गया है। इस स्पष्टीकरणके आधार परसे ही लोक, पुनर्जन्म, संसार, मोक्ष^१, जीवकी नाना देशोंमें गति होने से उसकी व्यापकता का अभाव अर्थात् ही देहपरिमाण आत्मा, क्रिया-कर्म का सिद्धान्त ये मन्तव्य स्थिर करने में सुविधा हुई है।

समग्र आचारांग में अनेक बार ‘लोक’ शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु प्रायः उसका अर्थ जीवसमूह^२ ही लिया गया है^३। किन्तु आगे चलकर इस लोक की व्याख्या प्रधानरूप से क्षेत्रपरक हो गई है। कर्मरहित आत्मा की स्थिति कैसी हो इसका प्रतिपादन इन शब्दों में है—“सब्वे सरा नियट्ठंति, तक्का जत्थ ण विज्जति, मती तत्थ ण गाहिया, ओए अप्पतिट्ठणस्स खेत्तण्णे । से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्ठे, ण तंसे, ण चतुरंसे, ण परिमंडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिते, ण हालिहे, ण सुक्किले, ण सुरभिगंधे, ण दुरभिगंधे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण मधुरे. ण कक्खडे, ण मउए, ण गुरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्ध, ण लुम्बे, ण काळ, ण रुहे, ण संगे, ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा, परिण्णे सण्णे उवमा ण विज्जति, अरुवी सत्ता, अपयस्स पयं णत्थि । से ण सहे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चेतावन्ति ।”—आचा० १७६ ।

यह वर्णन उपनिषदों के ब्रह्मकी याद दिलाता है“जहां नेति नेति करके उसकी पहचान की गई है। किन्तु यहाँ एक और बात की ओर भी ध्यान देना जरूरी है। ये दीर्घ, ह्रस्व, रूप, रस आदि जिनका निषेध किया गया है वे अचेतन या अजीव अर्थात् जड़ पदार्थ के लक्षण हैं। किन्तु समग्र आचारांग में रूप-रसदि युक्त जो पदार्थ है वह पुद्गल है ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया। पुद्गल शब्द का ही प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। एक और बातकी ओर भी ध्यान देना जरूरी है।

प्रस्तुत सूत्र १७६ से जीवके अतिरिक्त अजीव=अचित्त पदार्थ की जानकारी फलित होता है वह इस प्रकार—अर्थात् ही अचित्त जो है वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श है; और उनके भेद भी गिना दिये गये हैं, वे हैं—रूपके कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्ल; गन्धके सुरभि और दुरभिगन्ध; रसके—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर; स्पर्श के—कंकश,

१ आचारांग को निर्युक्ति में मोक्षोपाय बतानेवाला ग्रन्थ कहा गया है—आचा० नि० ९।

२. ‘अट्टे लोए’ आचा० १० ।

३. कहीं कहीं लोक अर्थात् क्षेत्रलोक भी अभिप्रेत है— आचा० १३६ ।

४. “यतो वाचो निवर्तन्ते” इत्यादि—उपनिषद्वाक्य—महाकोष ।

५ आचा० पृ० ४०६ में देखें इस पर टिप्पण ।

६. यहाँ ध्यान देना चाहिए कि यह भाषा बौद्ध में भी प्रयुक्त है जहाँ ‘रूपवत्’ न कह कर ‘रूप’ कहा जाता है ।

मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष; और संस्थान के दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, व्यश्र, चतुरश्र और परिमंडल' ।

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि शब्द को वैशेषिक सूत्र १.१.५ में गुण नहीं कहा है, किन्तु आगे चलकर उसे २. १, २० में आकाशका लिंग कहा है । किन्तु वैशेषिकसूत्र के व्याख्याकारोंने शब्द को भी गुण मान लिया है । न्यायसूत्र १.१.१३ में शब्द को गुण माना ही है ।

सांख्योंने शब्द को श्रोत्रका विषय तो माना साथ ही कर्मेन्द्रियों में वाक् को स्वतंत्र इन्द्रिय मान कर वचन को उसका व्यापार माना । सांख्यकारिका-२६, २८ ।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि आचा० चू० पृ० १९९ में ह्रस्व-दीर्घ को संस्थान माना है किन्तु उत्तराध्ययन में पुद्गलपरिणामों की चर्चाके प्रसंगमें-(३६. १५.-२१) संस्थान में ह्रस्व-दीर्घ की गिनती नहीं की गई । किन्तु स्थानांग के प्रारंभमें एक-एक की गिनतीमें दीर्घ-ह्रस्व गिनाये गये हैं । और उसका स्थान आचारांग की ही तरह वृत्त के पूर्व में है ।

जब जीवकी गति मानी गई तब उसे व्यापक तो माना नहीं जा सकता था अतएव स्पष्ट रूपसे कालक्रमसे देहपरिमाण^३ माना गया । और मुक्तिस्थान में उसकी जब गति मानी गई तब प्रश्न हुआ कि सिद्धावस्था में उसका परिमाण क्या हा ? इस प्रश्न का उत्तर आगे चलकर अन्य आगमों में दिया गया कि अंतिम शरीर ३/४ परिमाण होगा^४ ऐसी स्थितिमें यहाँ जो कहा गया कि वह न दीर्घ है, न ह्रस्व इसका विसंवाद होता है । स्पष्ट है कि यहाँ जो वर्णन है वह उपनिषदों का अनुसरण करता है^५ । उससे जो सिद्धांत स्थिर होने चाहिए वैसे करने में जैनदार्शनिकों के समक्ष दिक्कतें थी । अतएव इसकी आंशिक उपेक्षाके अलावा और कोई रास्ता नहीं था ।^६ इतना ध्यान में रहे कि आचारांग में कहीं भी उसे देहपरिमाण नहीं कहा गया । वह मृत्यु के समय गमन से फलित सिद्धान्त है ।

अहिंसाकी चर्चाके प्रसंग में ये वाक्य हैं, -“तुमं सि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि, ... अज्जावेतव्वं ति मण्णसि...” इत्यादि, आचा० १७० । इस विचार में भी उपनिषद् के मन्तव्य की छाप स्पष्ट है । यदि आत्मा नाना है तो मारने वाला और मार खानेवाला भिन्न है किन्तु जहाँ आत्मा एकही हो वहाँ हिंसक और हिंस्य एक ही होता है । जैन धर्म और दर्शन में नानाआत्मवाद स्थिर हुआ है अतएव आचारांग के ये वाक्य जैन दर्शन के अनुकूल नहीं हैं । आचारांग में 'छज्जीवणिकाय'^७ की चर्चा है जो सूचित करता है कि एकात्मवाद

१. आचा० चू० पृ० १९९ ।

२. आचा० १, १२३, १६९, १७६। इन सूत्रों की चूर्णि भी देखें ।

३. भगवई १. ७. ५७, उक्त० ३६. ५१, ५७, ६५ ।

४. ओववाइय सुत्तगत अंतिम गाथाओं में गाथा नं ४ ।

५. यहाँ के तार्विक आत्माके वर्णनमें से आ० कुन्दकुन्द ने 'न ह्रस्व, न दीर्घ' को हटा दिया है इस पर ध्यान दें-प्रवचनसार २. ८० ।

६. आगे चलकर दार्शनिकों ने ज्ञान की अपेक्षा से और केवलि समुद्घात की अपेक्षा से आत्मा को व्यापक सिद्ध करनेका प्रयत्न किया ही है । प्रज्ञापना सू० २१६८-३२, प्रवचनसार १.२३, २६, आगमयुगका जैनदर्शन पृ० २४९ ।

७. आचारांग ६२।

के स्थान में नानात्मवाद स्थिर हो गया है।^१

एक और शब्द भी पूर्वपरम्परा के अनुसार प्रयुक्त हुआ है—वह है—‘खेत्तण्ण’ आचा० ३२, ७९, १०४। इसका अर्थ चूर्णि में दिया है—पंडित (पृ० ७०) और ज्ञायक (जाणओ) (पृ० १००)। ‘आगासं खित्तं जाणतीति खेत्तण्णो’ ‘अमुत्ताणि खित्तं च...जाणइ.... पंडितो वा’ यह अर्थ क्षेत्रज्ञका भी किया गया है—आचा० चू० पृ० १३४। उपनिषदों में यह शब्द आत्मा के लिए प्रयुक्त है। गीता भी इसका समर्थन करती है। पालि में इस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त नहीं देखा गया। देखें पालिकोष।

“जे अणण्णदंसी से अणण्णारंभे, जे अणण्णारंभे से अणण्णदंसी” आचा० १०१। यह पढ़ते ही उपनिषद के अनन्य-अद्वैतविषयक मन्तव्य की याद आना स्वाभाविक है^२। किन्तु यहाँ चूर्णि में इसका जो अर्थ किया गया है वह विचित्र है और स्पष्ट है कि चूर्णिकार इसका अद्वैतरक अर्थ करें वह उस काल में संभव नहीं रहा था। जैन दर्शन उस काल तक अपना व्यवस्थित रूप ले चुका था। अतएव उनके लिए स्वाभाविक था कि वे किमी तरह भी इसका अर्थ तत्कालीन जैन मान्यता के अनुकूल करें। अतएव इसका अर्थ किया है कि अन्यदृष्टि = अन्यमत = ३६३ मतवादी। जो अन्यदृष्टि नहीं है वह अनन्यदृष्टि है। वह अन्य-दृष्टि का परिवर्जन करने वाला होता है। वह केवल जैनदृष्टि को ही तात्त्विक मानता है। ऐसी व्यक्ति अन्य में रमण नहीं करती—आचा० चू० पृ० ९६। यहाँ शीलांकने भी ऐसा ही अर्थ किया—है आचा० टी० पृ० १४५।

आचारांग में प्रमाण या ज्ञान की चर्चा कैसी है यह भी देख लें जिससे प्रमाण और प्रमेय की व्यवस्था जो आगे चल कर हुई है उसके पूर्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाय। आचारांग में (१३३) दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात ये शब्द हैं—ज्ञान के विषय में। इससे इतना ही फलित होता है कि इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को दृष्ट कहा, किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होने-वाले ज्ञान को पृथक् किया गया—वह है श्रुत और मन से होनेवाले ज्ञान को ‘मत’ कहा गया और विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान से फलित किया जा सकता है। तत्त्वार्थ और अन्य आगम ग्रन्थों में जो पाँच प्रकार के मति आदि ज्ञानों का निर्देश है उसका मूल यहाँ है, किन्तु परिभाषा या पारिभाषिक शब्द अभी निश्चित नहीं हुए। अवधि, मनःपर्याय या केवल ये शब्द अभी प्रयुक्त नहीं—यह सूचित करता है कि अभी पारिभाषिक शब्दों का रूप स्थिर नहीं हुआ।

इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञानों को ‘प्रज्ञान’ कहा है—“जाव सोतपग्गाणा अपरिहीणा जाव णेत-पग्गाणा अपरिहीणा...धागपग्गाणा...जोहपग्गाणा...जाव फासपग्गाणा अपरिहीणा, इञ्चेतेहिं विरुवरुवेहिं पग्गाणेहिं” आचा० ६८^३। इससे फलित होता है कि यहाँ “प्रज्ञान” शब्द

१. यहाँ भी यह व्याख्या की जा सकती है और आगे चल कर की गई है कि अन्य की हिंसा हो या न हो हिंसा के अवसर में अपनी हिंसा तो होती ही है। अतएव इस दृष्टि से इसका समाधान किया जा सकता है। विवरण के लिए देखें मेरा लेख ‘संबोधि’ २. १, पृ. १-६।

२. उपनिषद्वाक्य—महाकोष, पृ० ३१।

३. आचा० ६४।

‘प्रज्ञा’ की अपेक्षा संकुचित अर्थ में प्रयुक्त है। या यों कहें कि सामान्य ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त है। बौद्धपरिभाषा में लौकिक और लोकोत्तर प्रज्ञा की चर्चा है। उसे देखते हुए यहाँ लौकिक प्रज्ञाके अर्थ में ‘सोतपण्णाण’ को समझना चाहिए। और लोकोत्तर प्रज्ञा के अर्थ में भी प्रज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ ही है—किन्तु विशेषण के साथ—“सव्वसमागतपण्णाण” (आचा० ६२, १६०, २१५) और बिना विशेषण के भी प्रयुक्त है (आचा० १६६, १७७)। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में जो यह कहा ‘प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य’ (३.६) इत्यादि, उसकी तुलना आचारांग के ‘सोतपण्णाण’ से करने जैसी है। उपनिषदों में तो ‘प्रज्ञान’ को ब्रह्म कहा है— देखें, उपनिषद्वाक्यमहाकोष।

अभी ‘तीर्थकर’ शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं हुआ है और नहीं उनके विशेष ज्ञानको ‘केवलज्ञान’ कहा गया है। उनके ‘सर्वज्ञ’ और ‘सर्वदर्शी’ विशेषण जो बाद के आगमों में निश्चित हो गये हैं उनका प्रयोग भी यहाँ नहीं है। भ. महावीरके विशेषणों की विस्तृत चर्चा मैंने अन्यत्र की है^३ अतएव यहाँ विस्तार करना अनावश्यक है। किन्तु केवलज्ञान की भूमिका खड़ी करने-वाले कुछ विशेषण जो प्रयुक्त हुए हैं उनका निर्देश करके संतोष लेता हूँ—‘बुद्ध’, ‘आयथ्यचक्खू’, ‘लोगविपस्सी’, ‘परमचक्खू’, ‘नाणवं’, ‘वेयवं’, ‘पन्नाणेहिं परिजाणइ लोगं’, ‘सव्वसमन्नागयपन्नाण’, ‘अनेलिसन्नाणी’ ‘तहागय’ ‘माहण’ और ‘वेयवी’। यहाँ ध्यान देने योग्य शब्द ‘वेदविद्’ है जो सिद्ध करता है कि उस काल में वेद की प्रतिष्ठा होने से उसके ज्ञान की भी प्रतिष्ठा मानी जाती थी। यहाँ ‘बुद्ध’ शब्द भी है जो आगे चल कर भ. गौतम बुद्ध के लिये प्रयुक्त है। यथार्थ जानने-वाले को तथागत माना जाता था जो भ. बुद्ध का विशेषण हो गया है। ‘माहण’—ब्राह्मण भी प्रतिष्ठासूचक है।

‘दर्शन’ शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। उसका भी सम्बन्ध ‘दृष्ट’ के साथ जोड़ना या स्वतन्त्र रखना यह समस्या है क्यों कि ‘पासगस्स दंसण’ (१२८) ‘कोहदंसी’ (१३०) इत्यादि प्रयोग भी मिलते हैं। जिनके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि ये ज्ञान इन्द्रियाधीन थे। अतएव मति आदि ज्ञान से पृथक् दर्शन का स्वीकार आगे चलकर हुआ।

पदार्थों की जो गिनती सात या नव आगे चलकर देखी जाती है उनमें से जीव-अजीव की कल्पना तो स्पष्टरूप से आचारांग में है। पुण्य और पाप का निर्देश मिलता है। कर्माखव का भी निर्देश है। निर्णय और मोक्ष का भी प्रयोग मिलता है। किन्तु संवर शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। कहीं भी इन तत्त्वों की एक साथ गीनती भी नहीं मिलती स्पष्ट है कि सात या नव तत्त्वों के गिनने का प्रघात अभी शुरू नहीं हुआ था।

जैनदर्शन में पदार्थ, अस्तिकाय, द्रव्य—ये शब्द जैनसंमत तत्त्वों के लिए प्रचलित हुए हैं। आचारांग में इनमें से ‘दात्रेय’ (द्रव्य) का प्रयोग मिलता है किन्तु पारिभाषिक अर्थ में नहीं— आ० चू० पृ० १५०। ‘अर्थ’ शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है किन्तु ‘पदार्थ’ के समीप अर्थ में प्रयुक्त ‘अर्थ’ शब्द एक बार ही प्राप्त होता है— आचा० १२४।

१. देखें पालिडिक्शनरी में पञ्ज और पञ्जा।

२. ‘आकेवलएहिं’ शब्द का प्रयोग एक बार मिलता है। आचा० १८३।

३. ‘संप्रसाद’ पृ० १३६-१४८ श्री चतुर्भुज पुजारा मंत्रविद्योत्कर्ष ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९७७, और अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् की कार्यवाही १९७२, पृ० २४७ में इसी विषयका मेरा लेख।

आगे चलकर द्रव्य-गुण-पर्याय ये पारिभाषिक शब्द जैनदर्शन में प्रचलित हुए। इनमें से 'गुण' शब्दका प्रयोग आचारांग में (३३, ४१, ६३, १६३) मिलता है। एक स्थान में 'गुण' का सम्बन्ध चूर्णिके अनुसार 'रंघण-पयण-पगासण' आदि से है (पृ०३०), तो दूसरे स्थान में 'गुण'शब्द का सम्बन्ध 'सद्दादि विसय' (पृ०३२) से है। यह दूसरा अर्थ 'गुण' की परिभाषा के साथ मेल खाता है। और यही अर्थ अन्यत्र 'सद्दादिसु गुणेषु' (पृ०४९) कह कर स्वीकृत हुआ है। अन्यत्र 'गुणा नाणादि' (पृ०१८४) अर्थ किया है। अतएव हम कह सकते हैं कि चेतन द्रव्य के ज्ञानादि गुण और अचेतन द्रव्य के शब्दादि गुण आचारांग में अभिप्रेत है। इतना होने पर भी समग्ररूप से गुण पदार्थ की स्वतंत्र चर्चा नहीं हुई यह कहा जा सकता है। यह प्रक्रिया अगले स्तर में शुरू हुई है।

'पञ्जवजात' (आचा० १०९) में स्पष्टरूप से पर्याय का उल्लेख है और यहाँ वही पर्याय से अभिप्रेत है जो परिणाम से सूचित होता है (आचा० चू० पृ०१०९)। समग्र आचारांग में यह शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है-उससे सूचित होता है कि अभी स्पष्टरूप से वह पारिभाषिक नहीं बना है।

आचारांग का यह सूत्र विशेष ध्यान देने योग्य है- "इहमेगेषिं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति । ते इह आरंभट्ठा अणुवयमाणा हण पाणे घातमाणा, हणतो यावि समणुजाणमाणा, अदुवा अदिन्नमाइयति, अदुवा वायाभो विउजंति", तं जहा अस्थि लोए, णस्थि लोए, ध्रुवे लोए, अध्रुवे लोए, सादिए लोए, अणादिए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडे ति वा दुकडे ति वा कळ्हाणे ति वा पावए ति वा साधू ति वा, असाधू ति वा सिद्धी ति वा असिद्धी ति वा निरए ति वा अनिरए ति वा । जमिणं विप्पडिवण्णा ममगं धम्मं पणवेमाणा ।" आचा०२००^३।

इस सूत्र में अनेकान्त के बीज देखे जा सकते हैं। यहाँ पर इन विविध मतों को परस्पर विरोधी बताया गया है। किन्तु जैन मन्त्रव्य स्पष्ट नहीं किया गया। लेकिन भगवतीसूत्र में इन विषयों का अनेकान्त दृष्टि से निरूपण किया है, कि लोको ध्रुव भी है और अध्रुव भी, सादि भी है और अनादि भी, सान्त भी है और अनन्त भी^४।

इस सूची में लोक, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि और नरक-अनरक का निर्देश है किन्तु इस सूचि का विस्तार हमें सूत्रकृतांग २.५ में मिलता है।

आचारांग में आरामा के विषय में परिणामवाद स्वीकृत है इसकी प्रतीति तो १-३ सूत्रों से होती ही है। जहाँ परिणतजीव के अनेक जन्मों की बात कही गई है और इसकी पुष्टि द्वितीय श्रुतस्कंध से होती है। जहाँ परिणत और अपरिणत पानक की चर्चा है-आचा०३६९। और भी देखें-असत्थपरिणत आचा० ३७५-३७९, ३८२, ३८४-३८८।

आचारांग की नियुक्ति में स्पष्ट कहा गया है कि-

१. यहाँ हिंसा, चोरी और मृषावाद-यह क्रम ध्यान देने योग्य है। बौद्धों में भी यही क्रम है।
२. तुलना सूत्रक० ८०, ८१, सूत्रक० चूर्णि-पृ०४६, प्राकृत परिषद्।
३. इसकी चूर्णि पृ०२५१।
४. विशेष विवरण के लिए देखें-'आगम युगका जैनदर्शन'।

“आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हं पि ।

इत्थं यं मोक्खोवाओ एसं यं सारो पवयणस्स ॥” आचा. नि० ९ ।

इससे स्पष्ट है कि ‘आचार’ ही प्रवचन का सार है और वही ‘मोक्षोपाय’ है। क्योंकि आचार से ही मुक्ति-मोक्ष है। अतएव देखना यह है कि आचारांग में मोक्ष की कल्पना कैसी की गई है। पूर्व में उद्धृत आचा० २०० में सिद्धि शब्द का प्रयोग है अतएव यह विदित होता है कि तीर्थकों में सिद्धि विषयक कल्पनाएँ थीं। किन्तु जैनों ने अपने ढंग से इस विषय में क्या माना यह उस सूत्र से ज्ञात नहीं होता। अतएव आचारांग में सिद्धि के विषय में अन्यत्र क्या कहा गया यह जानना जरूरी है।

सिद्धि (२००), निर्वाण (१९६), निरोध (२४७), मुक्त (९९, १६१, १८८), मुक्ति (१७७), मोक्ष (७३, १०४, १५५, १७८), परिनिर्वाण (४९) परिनिवृत्त (१९७), पारग (२३०) पारगामि (७१), पारंगम (१९८) जैसे शब्द मोक्षसूचक हैं, इसमें तो संदेह नहीं किन्तु मोक्ष का स्वरूप कैसा और उसके उपाय क्या इसका विवरण उन शब्दों के प्रयोग के सन्दर्भ से ही ज्ञात हो सकता है। सामान्य तौर पर यह तो ज्ञात हो ही सकता है कि आचार अर्थात् जिसका निरूपण आचारांग में है—वह मोक्ष का उपाय है जैसा कि नियुक्ति आदि में कहा गया है। किन्तु विशेष रूप से उपाय क्या अभिमत है— इसका जानना जरूरी है।

आचारांग (९१, १०३) में कहा है, “एसं वीरे” पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए” । स्पष्ट है कि मुक्ति या मोक्ष का तात्पर्य बन्धन से मुक्ति पाना—यह है। अतएव जो दूसरों को मुक्ति दिलाता है वह वीर प्रशंसाके पात्र हैं। चूर्णि (पृ० ८४) में स्पष्टीकरण है कि बंध क्या है— “द्वंबंधो पुत्रकलत्रमित्रहिरण्णादीणि, भवे विसयकमायादी । जो एएणं बंधेण अप्पाणं मोएत्ता परा मोएति” स्पष्ट है कि पुत्रादिरूप बाह्य और विषय-कषायरूप आंतरिक बन्धनों से मुक्ति पाना मोक्ष है। मोक्ष की यह कल्पना साधारण है— इसमें जैनसंमत मोक्ष की कोई नई परिभाषा नहीं है। किन्तु अन्यत्र चूर्णिमें ही इसी की व्याख्या है—“आठ कर्मों से जो मुक्ति दिलावे वह वीर है” (पृ० ९९) । यह जैन परिभाषा है। आचारांग (१०४)में यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है, जहाँ यह भी स्पष्ट है कि मेधावी पुरुष अपने बन्धन से मोक्ष का अन्वेषो है —“से मेधावी जे अणुग्धातणस्स खेत्तणो जे यं बंधामोक्खमणोसी” । किन्तु उसके बाद यह वाक्य “कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के” थोड़ा विचित्र है। क्या ‘कुशल’ से यहाँ वैदिकों के ईश्वर या ब्रह्म

१. आचा० द्वि० श्रुतस्कंध में सिद्धि के पर्याय हैं—“सिद्धिस्संति, बुद्धिस्संति, मुच्चिस्संति, परिणिन्वाइस्संति, सब्बदुक्खाणं अंतं करिस्संति” ७४५ । और ८०२-८०४ में भी ‘अन्तकृत’ =सिद्ध के लक्षण देखें— जहाँ निरालम्बन और अप्रतिष्ठित, बन्धनहीन तथा कलंकलीभावप्रपञ्च से मुक्त कहा है।

२ “विदारयति तत्कर्म तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, वीरो वीरेण दर्शितः ॥” आचा० च० पृ० ९३१ ।

३. और भी आचारांग १५५ ।

४. देखें “न बद्धोऽस्मि न मुक्तोऽस्मि ब्रह्मैवाऽस्मि” अन्नपूर्णापनिषद् ५.६८ ।

अभिप्रेत तो नहीं ? जो भी हो किन्तु चूर्णिकार ने किसी भी तरह जैन के अनुकूल इसकी व्याख्या की है कि यहाँ तीर्थंकर केवली 'कुशल' पद से अभिप्रेत है और वह चार घाती कर्म की मुक्ति के कारण बद्ध नहीं और भ्रूषणवाही कर्म से बद्ध होने से मुक्त नहीं—पृ० १०० । किन्तु आचारांगमें जब यह वाक्य लिखा गया है तब आठ कर्मों की व्यवस्था जो बाद में देखी जाती है वह व्यवस्थित हुई थी या नहीं यह एक प्रश्न है ।

भगवान महावीर ने जो मार्ग बताया उसकी विशेषता यह है कि भिक्षु परिग्रह से विरत रहे । जो भी अपने पास आवश्यक परिग्रह हो उसमें भी ममत्व न रखे जिफका परिणाम होगा कि वह कहीं भी लिप्त नहीं होगा , बन्धन में भी नहीं पड़ेगा । बन्धन क्या है इसकी स्पष्टता की गई है "रूवेहिं सत्ता कळुणं थणंति णिदानतो ते ण लभंति मोक्खं ।" १७८ । अर्थात् ही रूप में आसक्ति के कारण निदान=बन्धन होने से मोक्ष मिलता नहीं । अन्यत्र 'पापमोक्ष' निर्दिष्ट है— ७३ । इससे स्पष्ट होता है कि 'पाप' बन्धन है जिससे मुक्त होना जरूरी है । 'पाप' और 'पापकर्म' का उल्लेख तो आचारांग में अनेक स्थान में है । यह भी कल्पना सर्वसाधारण है । किन्तु 'कर्मशरीर' से मुक्ति की बात जैन परिभाषा में कहीं गई है, ऐसा माना जा सकता है —"सुणी मोणं समादाय धुणे कम्मशरीरंगं" ९९ । काय के निराकरण से मुनि पारगामी होता है— ऐसा भी कहा है— १९८ । जो पारगामी हैं वे विमुक्त हैं—७१ । अर्थात् ही जिन्होंने सांसारिक बन्धनों को तोड़ दिया है, वे संसारसमुद्र के पारगामी हैं— त्रिमुक्त हैं । मुक्त जीव की क्या परिस्थिति होगी यह— "आगतिं—गतिं परिणाय अच्चेति जातिमरणस्स वडुमगं वक्खवातरते" (१७६)^१ इन वाक्य से स्पष्ट है कि मुक्त होने के बाद जन्म-मरण के फेर समाप्त हो जाते हैं । मुक्त आत्मा का स्वरूप विषयक अवतरण इतः पूर्व दिया गया है । विशेष में यह भी स्पष्ट है कि वहाँ जब जाति-मरण है नहीं तो दुःख भी नहीं है— ७, १३, २४ इत्यादि ।

मुक्ति का अर्थात् जन्ममरण के निवारण का और दुःख के प्रतिघात का कारण अहिंसा है— इस बात को आरंभनिवृत्ति=हिंसाविनिवृत्ति का उद्देश देकर बार बार दोहराया है— आचा० ७, १३, २४, ३५, ४३, ५१ और ५८ ।

मुक्तिमार्ग की चर्चा के प्रसंग में आचारांग का यह वाक्य ध्यान में लेना जरूरी है "से किट्टति तेसि समुट्ठिताणं निक्खित्तदंडाणं समाहिताणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमगं" आचा० १७७ । इस सूत्र में निक्खित्तदंड=अहिंसा, समाहि=समाधि और पण्णाण=प्रज्ञा की ओर संकेत है । बौद्धों में शील, समाधि और प्रज्ञा को निर्वाण का मार्ग बताया जाता है । उसी का पूर्व रूप यह है । किन्तु जैन दर्शन में आगे चलकर दर्शन, ज्ञान, चरित्र को मोक्ष मार्ग बताया गया उसमें चारित्र=शील को अन्तिम स्थान दिया है और यहां बौद्धों की ही तरह शील को प्रथम स्थान मिला है— यह ध्यान में रखने की बात है । स्पष्ट है कि जैनों ने आगे चलकर प्रज्ञा=ज्ञान को नहीं, चारित्र को विशेष महत्त्व दिया ।

चूर्णि (पृ० २३७) में आचा० १९६गत निर्वाणव्याख्या में लोभादि के उपशम से निर्वाण होता है यह कहा है । यह प्राचीन परिभाषा है । बाद में तो उपशम और क्षय एते

१. आचा० ८८-८९ । अन्यत्र परिग्रह को महाभय कहा है । आचा० १५४ ।

२. और भी देखें "जातिमरणमोयणाए" ७, १६, २४ ३५, ४३, ५१, ५८ ।

भेद करके लोभादि के क्षय से निर्वाण होता है यह स्पष्ट किया गया है। बौद्धों में भी क्षय के लिए उपशम शब्द का प्रयोग होता है।

‘निरोध’ शब्द का प्रयोग ‘संवगायनिरोध’ (२४७) इस प्रकार से है। यह प्रसंग मारणांतिक संलेखना का है जिसमें यह कहा है कि कितना भी उत्ताप हो यावत् सब गात्र का निरोध का प्रसंग भी आवे तब भी अविचल रहे—आचा० चू०पृ० २९४।

आचा० का आठवाँ अध्ययन ‘विमोक्ष’ नामक है। इस ‘विमोक्ष’ की व्याख्या प्रसंग में निर्युक्ति (गा०२६०) और चूर्णिकार (पृ०२४६) ने ‘देशविमोक्ष’ और ‘सर्वविमोक्ष’ की चर्चा की है, तरतमभाव से कषाय से छूटना देशविमोक्ष और सर्वथा कषाय से मुक्त होना सर्वविमोक्ष है। सिद्धों को सर्वविमोक्ष है और श्रावक और साधुओं में देशविमोक्ष है। कर्म से आत्माका जो संयोग है वह बंध है और उससे वियोग=छुटकारा मोक्ष है— इस बात को निर्युक्ति (२६१) में स्पष्ट रूप से कहा है।

इस ‘विमोक्ष’ अध्ययन में मारणांतिक संलेखना करनेवाले को किस प्रकारकी आपत्तियाँ आती हैं और उसे उन आपत्तियों का समभाव से किस प्रकार सहन करना जरूरी है यह बताना अभिप्रेत है। और यह संलेखना मोक्षोपाय होने से विमोक्ष है यह निर्युक्ति में स्पष्ट-रूप से कहा गया है और चूर्णिकार (पृ० २४६-७) उसका समर्थन है—

भक्तपरिन्ना इंगिणि पायवगमणं च होइ नायव्वं ।

जो मरइ चरिममरणं भावविमुक्खं वियाणाहि ॥” आचा० नि० २६३।

आचा० ९९, १६१ और १८८ में सम्यक्त्वदर्शी” और विरत मुनि को ‘मुक्त’ संज्ञा दी है। वह मुनि अपने आहार में लूवा सूवा लेता है, अत्यंत कृश हो जाता है और कष्टों को सहन कर संसार को पार कर जाता है। और कर्मशरीर का परित्याग करता है।

इस सब चर्चासे इतना तो स्पष्ट है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को तत्त्वार्थसूत्र में जो मोक्षमार्ग कहा वह आचारांग की चर्चा के सारांश को ध्यान में रख कर है। साथ में यह भी देखना जरूरी है कि कहीं एक स्थान में तीनों का एकत्र उल्लेख आचारांग में इस रूपमें नहीं है।

आचारांग ‘आचार’ का ग्रन्थ होनेसे उसमें दार्शनिक विचारों का प्राधान्य नहीं हो सकता यह दृष्टि दी जा सकती है किन्तु उसमें होने वाले शब्द प्रयोगों के आधार पर दर्शन की कल्पना तो की जा सकती है और उसीका निर्देश मैनै यहाँ करने का प्रयत्न किया है। आचारांग अनेक स्थानों में खंडित है। अतएव पूरी बात हमारे समक्ष आ नहीं सकती यह भी तथ्य है किन्तु जो कुछ उपलब्ध है उसीको आधार बना कर ही कहा जा सकता है और जो कुछ मैनै यहाँ कहा है वह आगेके विकास को स्पष्ट रूप से फलित करने में समर्थ है। जैन दर्शन का क्रमिक विकास हुआ है और उस क्रमिक विकास की भूमिका आचारांग में है— इतना ही कहना यहाँ अभिप्रेत है।

इतनी चर्चा से स्पष्ट होता है कि जैन दर्शनकी प्राथमिक भूमिका में ‘षड्जीवनिकाय’ और अत्रित्त पदार्थ की कल्पना की गई है। ‘अत्रिकाय’ शब्द अभी व्यवहार में आया

१. भद्रा का उल्लेख आचा०२० में है। श्रद्धानक्रिया का उल्लेख २५२ में है। ‘सम्यक्त्व’ के लिए देखें—आचा० १८७, २१४, २१७, २१९, २२१-२२३, २२६, २२७। सम्यक्त्वदर्शी के लिए ९९, ११२, १४० भी देखें।

नहीं। आकाश को भी अन्य मतवालों ने महाभूत में शामिल किया है किन्तु कहीं भी उसकी 'काय' संज्ञा देखी नहीं जाती। जीव, आत्मा, जीविकाय, चित्तमंत ऐसे शब्दों का प्रयोग चेतन तत्त्व के लिए स्वीकृत है और अचेतन तत्त्व के लिए अचेतन, अचित्तमंत ऐसे शब्दों का प्रयोग देखा जाता है किन्तु 'अजीव' यह शब्द देखा नहीं जाता। 'पुद्गल' शब्द का भी प्रयोग रूपी या मूर्ति पदार्थ के लिए अभी नहीं हुआ है।

आचारांग में उपलब्ध जैनदर्शन की चर्चा करने के बाद यह देखना जरूरी है कि पालिपिटक में जो जैनमन्तव्यका का निर्देश है वह कैसा है क्यों कि जैनमन्तव्यों का अन्यत्र प्राचीनतम उल्लेख वही है। पालिपिटक में निग्गण्ठ नाटपुत्त के मत का जो उल्लेख है वह आचारपरक है। उससे भी यह सिद्ध होता है कि प्राथमिक भूमिका में जैनधर्म में आचार विषयक मन्तव्य विशेष रूप से निश्चित हुए थे।

सूत्रकृतांग - प्रथम श्रुतस्कंध में जैनदर्शन

आचारांग के दर्शन का विकास सूत्रकृतांग में स्पष्टरूप से मिलता है। आचारांग के कई विषय ऐसे हैं जिनकी सूचना मात्र आचारांग में थी उसका विवरण सूत्रकृतांग में देखा जाता है। अतएव यहाँ सूत्रकृतांग में जो दार्शनिक विकास देखा जाता है उसका निर्देश जरूरी है। यहाँ भी सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कंध ही अभिप्रेत है जो उसके द्वितीय श्रुतस्कंध से प्राचीन है। अतएव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध की चर्चा के बाद उसी की चर्चा की जाय यह उचित है।

सूत्रकृतांग में प्रथम अध्ययन में सर्वप्रथम अन्य तीर्थीकों के मत की समीक्षा की गई है। समीक्षा तो है किन्तु उस मत के स्थान में जैनमत क्या है वह स्पष्ट नहीं कहा। अतएव उन समीक्षित मन्तव्यों के आधार पर जैन मन्तव्य फलित करना ही हमारे लिए एकमात्र मार्ग रह जाता है।

सूत्रकृतांग (७) में पृथ्वी, आप, तेज, वायु, और आकाश को पाँच महाभूत मानने वाले के मत का निर्देश है। इस मत के अनुसार इन पाँच भूतों से एक देही (आत्मा) का निर्माण होता है और उन पाँच के विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता है (८)

इस मत की तुलना दीघनिकायगत (पृ०४८) अजित केशकम्बल के मत से की जा सकती है। वह पुरुष अर्थात् आत्मा को चार महाभूतों से उत्पन्न मानता है^१। चार महाभूत हैं—पृथ्वी, आप, तेज और वायु। इसके अतिरिक्त आकाश भी उसने माना है जिसमें मृत्यु होने पर इन्द्रियों का समावेश हो जाता है—'आकाशं इन्द्रियाणि संकमन्ति'—अर्थात् वह पंचभूतवादी है। यह भी ध्यान देने की बात है कि उसके मतानुसार चार भूतों की 'काय' संज्ञा भी मान्य है, जैसे पृथ्वीकाय आदि। 'आकाश' की 'काय' संज्ञा नहीं है। वह अक्रियावादी है, जो किये गये कर्म के विपाक को नहीं मानता और नहीं परलोक को^२। उसने अपने मत के विपरीत वाद को 'अत्यहवाद' कहा है उससे यह फलित होता है कि वह 'नत्थिकवादी' है। अर्थात् ही आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व वह नहीं मानता और न परलोक को।

१. दीघनिकाय पृ० ५०। विशेष विवरण के लिए देखें—डा० नगराजजी, आगम और पिटक: एक अनुशीलन पृ० ५३७-६१३

२. सूत्रकृ०नि०गा० २७।

३. 'चातुमहाभूतिको अयं पुरिसो'-दीघ०पृ०४८।

४. उनके मतानुसार मृत्यु होने पर 'पठवीं पठविकायं... आपो आपोकायं, तेजो तेजो-कायं.... वायो वायुकायं अनुपेति अनुपगच्छति' दीघ० पृ०४८।

५. 'नत्थि सुकत-दुक्कटानं कम्मनं फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परलोको' दीघ०पृ०४८।

अजित के समान ही दूसरा मत पूरण कस्सपका है जो पाप-पुण्य नहीं मानता और अक्रियावादी है—दीघ० पृ० ४५ ।

पकुध कञ्चायन के मतानुसार पठविकायो, आपो० तेजो० वायो० सुखे दुःखे जीव सत्तमे —ये 'काय' सात हैं जो शाश्वत हैं और परस्पर सुखदुःख का कारण नहीं बनते । कोई किसी की हिंसा नहीं करता, कोई किसी के प्राण का व्यपरोपण नहीं करता, किसी के मस्तक का कोई तीक्ष्ण शस्त्र से जब घात करता है तब वह किसी के जीवन का घात नहीं करता, केवल इन सात कायों के बीच शस्त्र का पात करता है । कोई किसी का घातक, हिंसक नहीं है । कोई किसी का विज्ञप्ता या विज्ञापक भी नहीं — दीघ० पृ० ४९ । यह भी अक्रियावादी ही कहा जायगा ।

पृथ्वी आदि को 'भूत' न कह कर 'काय' संज्ञा सूत्रकृतांग में है । और यह भी तात्पर्य है कि वे सच्चित्त हैं—सजीव हैं । अन्य मत में जैसा कि हमने देखा चार या सात 'काय' है । जब कि सूत्रकृतांग में 'काय' छह है यह व्यवस्था हुई है और वे षड्जीवनिकाय नाम से जाने जायें यह भी स्पष्ट है— किन्तु गिनती में छह का कथन आचारांग (६२)का अनुसरण ही नहीं, स्पष्टीकरण भी मानना चाहिए । क्यों कि आचारांग में प्रथम अध्ययन में 'तसकाय' (५०) और 'अगणि काय' (२११, २१२) को 'काय' संज्ञा दी है । शेष का नामोल्लेख है किन्तु उन नामों के साथ 'काय' संज्ञा का प्रयोग नहीं । इसका अर्थ यह तो नहीं कि वे 'काय' रूप से अनभिमत थे । क्योंकि आगे चलकर प्रथम अध्ययन के अन्त में 'छड्जीवणिकाय' (६२) शब्द का प्रयोग किया गया है । और आचा० २६५ में अन्य आप और वायु को भी काय कहा ही है । केवल पृथ्वी और वनस्पति के साथ 'काय' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । फिर भी अभिप्रेत है ऐसा माना जा सकता है । सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से गिनती करके छहों बताए हैं— सूत्रकृतांग ३८१-८२ में पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस को गिनती की गई है । यहाँ तृण-वृक्ष-बीज से वनस्पति अभिप्रेत है और त्रस प्राणों में अंडज, जरायुज, संस्वेदज और रसज का उल्लेख । सूत्रकृतांग (४४४-४४५) में तो स्पष्टरूप से छह कायों का निर्देश है—किन्तु त्रस में 'पोत' भेद का भी निर्देश किया गया है, जो पूर्व में निर्दिष्ट नहीं था । और सूत्रकृतांग-५०३-५०४ में सभी छहों को गिनाकर अंत में कहा है 'इत्ताव ताव जीवकाए नावरे विज्जती काए' (५०४) । स्पष्ट है कि काय संज्ञा छह जीवकाय की ही है । फलित यह भी होता है अभी 'अतिथिकाय' संज्ञा व्यवस्थित नहीं हुई और धर्म-अधर्म-पुद्गल-आकाश का कायरूप से स्वीकार भी नहीं हुआ ।

१. ध्यान देना जरूरी है कि सातों को काय माना फिर भी गिनती के समय पृथ्वी आदि चार के साथ ही 'काय' शब्द जोड़ा है ।

२. यहाँ तत्त्वार्थ के 'जरायवण्डोत्तजानां गर्भः । नारकदेवानां उपपातः ।' २.३४-३५ देखें । और 'त्रस' जीवों के व्यवस्थित भेदों के लिए देखें आचा० नि० गा० १५३-१६३ । तत्त्वार्थ २ १४ ।

यहाँ सूत्रकृतांग में जो त्रस के भेद गिनाए उससे यह भी सिद्ध होता है कि बाद में ज उपपात जन्मवाले नारक और देव माने गये (नारकदेवानामुपपातः—तत्त्वार्थ २.३५) उनका समावेश त्रस में नहीं है ।

अथवा उनका समावेश त्रसके भेद रूप से गिनाए गये अण्डज आदि में से किसी एक में मान्य होगा । लेकिन स्पष्ट है कि सूत्रकृतांग में अभी गर्भज और सम्मुच्छिद्य इत्यादि समग्र जन्म प्रकारों की कल्पना स्पष्ट नहीं है । केवल गर्भज की कल्पना है—२२, २७, ९० ।

आचा० ४९. में कहा है—“संतिमे तसा पाणा, तं जहा-अंडया, पोतया, जराउया, रसया, संसेयया, सम्मुच्छिद्या उब्भिया उववातिया ।” स्पष्ट है कि आचारांग का यह सूत्र सूत्रकृतांग के सूत्रों का संशोधित रूप है— यह कोई भी कहेगा । आचारांग में ‘उववाइय (ओपपातिक) और उववाय (उपपात) ये शब्द केवल जन्मसामान्य अर्थ में प्रयुक्त हैं । विशेष प्रकारका ‘उपपात’ जन्म जो देव नारक का अभिप्रेत है उस अर्थ में यहाँ उपपात अभिप्रेत नहीं है । आचारांग में जन्म के लिए ‘उपपात’ और मरण के लिए ‘चयण’ शब्द का प्रयोग भी इसमें साधक प्रमाण है “उववायं चयणं णञ्चा” आचा० ११९ १८०, २०९। ‘उपपतनं उपपातो, जं भणितं जम्मं चयणं नाम मरणं । ण य तेल्लोके वि तं ठाणं अत्थे जत्थ उववातो चयणं वा ण भवति आचा० चू० पृ० ११६ । इससे हम कह सकते हैं कि जन्म का विशेष प्रकार ‘उपपात’ जो देव-नारक के लिए व्यवस्थित हुआ वह आचारांग काल की कल्पना नहीं है । या यों कहें कि वह जैनों की प्राचीनतम कल्पना नहीं है । बाद में कभी भी जोड़ी गई है । प्रमाण यह है कि आचारांग के अन्य सूत्रों में उसका उल्लेख नहीं और सूत्रकृतांग में भी उस विशेष अर्थ में प्रयुक्त नहीं ।

इस कल्पना को प्रथम किसने की यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु बौद्धों में भी देवों के त्रिषय में ऐसा कल्पना की गई है— दीघनिकाय (भा- ३- पृ० ८३) गत ‘ओपपातिक’ शब्द की अ-डकथा में उसका अर्थ दिया है कि जो माता-पिता के बिना जन्म होता है, जैसा की देव का वह ओपपातिक है इतना ही नहीं योनि के चार प्रकारों को भी बौद्धों ने गिनाया है और वे हैं—अण्डजयोनि, जलजुजयोनि संसेदजयोनि और ओपपातियोनि—दीघ० भाग ३. पृ० १७९ । इसकी तुलना आचारांग-सूत्रकृतांग से करें तो स्पष्ट होगा ‘उपपात’ को विशेषयोनि के अर्थ में लेना यह प्राथमिक कल्पना नहीं है । कभी बाद में यह व्यवस्था हुई है । इसके साथ तत्त्वार्थ के २-३४-३६ की तुलना करें जहाँ व्यवस्था दी गई है कि जरायुज, अण्डज और पोतज का जन्म गर्भ है, देव और नारक का जन्म उपपात है और शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म है ।

दीघ निकाय (पृ० १९५) में ‘दिग्वा गग्भा’ का उल्लेख है जिस पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि विचार व्यवस्था की पूर्वं भूमिका में देवों के भी ‘गर्भ’ से जन्म की मान्यता होगी चाहे यह अस्पष्ट हो कि गर्भ में आगति माता-पिता के संयोग से होगी या उसके बिना । किन्तु ‘उपपात’ का विशेषार्थ देकर इस शंका का निराकरण किया गया कि माता-पिता के संयोग के बिना वह होता है । और योनि के भेद में उसे पृथक् बताकर उस नये विचार की व्यवस्था भी की गई ।

१. सूत्रकृतांग ५४७ में अन्य मत के प्रसंग में राक्षस, यमलौकिक, सुर, आकाशगामी गंधर्व को काय संज्ञा दी गई है ।

२. उपपातः- प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः, उपाते भवः औपपातिकः । आचा० शी० १६।१। ‘उववाइय’ आचा० १, २, ४९ । ‘उववाय’ ११९, १८०, २०९ । यहाँ टीकाकार उपपत् समझते हैं किन्तु वास्तव में वह उपपद् का रूप लिया जाय तो अच्छा होगा । देखें उपपाद, उपपादुक शब्द, Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary (BHS).

३. देखें पालि डिक्शनेरी में ‘उपपातिक’ और ‘ओपपातिक’ तथा BHS में ‘ओपपादुक’

पंचमहाभूतवादी के बाद एकात्मकवादका निराकरण है (९-१०)। नियुक्ति में इसे 'एकप्यए' (गा०२७) अर्थात् 'एकात्मक' कहा है। चूर्णिमें व्याख्या है कि "तत्र केचित् एकारमहं जगदिच्छन्ति। तत्र केषांचिद् विष्णुः कर्ता, केषांचिद् महेश्वरः। स हि कृत्वा जगत् पुनः संक्षिपति"। सूत्र० चू० पृ० २५।

सूत्रकृतांगमें इस मतका स्पष्टीकरण है कि जैसे एक ही पृथ्वी स्तूप है किन्तु वह नाना-रूपमें दीखता है वैसे ही एक 'विष्णु' नाना रूपमें दीखता है। यहाँ 'विष्णु' का अर्थ विज्ञ भी है और विष्णु भी (चू० पृ० २५)। किन्तु नियुक्तिका 'एकात्मवाद' एक ब्रह्म या एक आत्मा जो उपनिषद् में मान्य है वही हो सकता है। एक ही ब्रह्म नाना रूपों में दीखता है यही मन्तव्य एकात्मवादी का है। और यह भी कि वही एक पाप करके उसका फल (दुःख) भोगता है - सूत्रकृ १०।

इस मतको जब अन्य मतके रूपमें निर्दिष्ट किया उससे यही फलित हुआ कि जैनदर्शनमें जगत् एकात्मक नहीं है। उसमें नाना जीव हैं और वे अपने अपने कर्मों का फल भोग करते हैं। एक ही आत्मा नहीं।

इसके बाद सूत्रकृतांग में तज्जीव-तच्छरीरवाद का निराकरण है—ऐसा नियुक्ति (गा०२७) और चूर्णिमें पृ०२३ में कहा गया है। सूत्रकृतांग में (सूत्रकृ० ११-१२) इस मतका विवरण है कि नाना सत्व-जीव औपगतिक नहीं हैं अर्थात् नया जन्म धारण नहीं करते, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, इसके बाद कोई परलोक भी नहीं। शरीर के विनाश के साथ ही देही आत्मा का विनाश हो जाता है। स्पष्ट है कि यह मत अक्रियावादी है। और इसकी तुलना अक्रियावादी पुरण कस्सपके मतसे की जा सकती है। उच्छेदवादी अजित "केसकम्बलका मत भी ऐसा ही है। उस के मतमें भी सुवृत्त-दुष्कृत का फल नहीं और परलोक भी नहीं। चतुर्महा-भूत से पुरुष का निर्माण होता है और मृत्यु के बाद भूतों में मिल जाता है"। इन का मत भी तज्जीवतच्छरीरवाद और अक्रियावाद कहा जा सकता है।

इस तज्जीव-तच्छरीरवाद को अमान्य करने से फलित होता है कि जैनमतानुसार आत्मा स्वतंत्र है। वे नाना हैं यह तो कहा ही गया है और अब यह फलित हुआ कि मृत्यु के साथ आत्मा का उच्छेद नहीं होता, वह अपने कर्मके अनुसार पुनर्जन्म धारण करता है और कर्म विहीन होकर मुक्ति लाभ भी कर सकता है।

तज्जीवतच्छरीरके निराकरणके बाद अकारकवाद का निराकरण है ऐसा चूर्णि (पृ०२७) में स्पष्टीकरण है। सूत्रकृतांग में इस मतके अनुसार आत्मा कर्ता और कारक भी नहीं आत्मा तो अकारक है (१३)। इस मतको चूर्णिमें स्पष्टरूप से सांख्य का मत बताया है। सांख्यों ने आत्मा को अकर्ता माना है—यह सर्वविदित हैं। उपनिषद् में भी इस मत की पुष्टि देखा जाती है—छान्दोग्य ७-९-१ में आत्माको अकर्ता कहा गया है। और गीताने (१३-३०) भी आत्माके अकर्तृत्वका समर्थन किया है। इस तरह अकारकवाद के निराकरणसे स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में आत्मा को कर्मका कर्ता माना गया है।

१. "पूरणो कस्सपो...अकिरियं व्याकासी" दीघ पृ० ४६।

२. "अजितो केसकम्बलो... उच्छेदं व्याकासी" दीघ पृ० ४८।

३. दीघ० पृ० ४८।

इसके बाद आत्मा को पांच महाभूतसे अतिरिक्त माननेवालों का मत है और उस मतके अनुसार आत्मा और लोक शाश्वत है। इन दोनों की उत्पत्ति होती नहीं। ये नियत हैं। और असत् की उत्पत्ति नहीं होती यह भी इस मतका सिद्धान्त है (१५-१६)।

इस मतको चूर्णि में अफलवाद^१ भी कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जब इस मत में नियति का स्वीकार हुआ अर्थात् ही पुरुषार्थवाद को अवकाश नहीं, कर्मवादका स्वीकार नहीं, तब फल कैसे होगा ? और यह भी ध्यानमें देना चाहिए कि इस मत को सत्कार्यवादी मानना उचित है। यही वाद सांख्यों ने भी माना। जैनदर्शन में तो सदसत्कार्यवाद का स्वीकार स्पष्टरूप से दार्शनिक काल में हुआ है। नियतिवाद के स्वीकार में ही असत् की उत्पत्तिका अस्वीकार सनिहित है। अतएव नियतिवादी सत्कार्यवादी हो यह स्वाभाविक है। किन्तु इस मतके निराकरण से जैन तो फलवादी और पुरुषार्थवादी ही यह फलित होता है।

बौद्धमत का भी निर्देश किया गया है और कहा है कि ये पांच स्कन्ध की मान्यता रखते हैं और उन्हें क्षणिक मानते हैं। साथही यह भी निर्देश है कि इनके मतमें (शरीरसे) अन्य या अनन्य (आत्मा) तथा हेतु से या अहेतुक (उत्पत्ति) भी मान्य नहीं है (१७) ये मानते हैं कि पृथ्वी, आप, तेज तथा वायु ये धातु हैं और इनकी 'रूप' संज्ञा है (१८)।

इसमें जो 'अन्य-अनन्य न होने' की बात कही गई है वह भ. बुद्ध के मत को पूर्वोक्त जो आत्मा को पांच भूतों से पृथक् नहीं मानते और जो पृथक् मानते है उन दोनोसे पृथक् करती है। अर्थात् ही बुद्धने पांच भूतों से निर्मित शरीर से जीव या आत्मा को अन्य और अनन्य कहने से इनकार किया है। यह उनके अव्याकृत प्रश्नों से स्पष्ट होता है^२। और अन्यत्र भी इसकी चर्चा बुद्धने की है।^३

बौद्धोंने प्रतीत्यसमुत्पाद मानकर हेतु से या अहेतुक उत्पत्तिका निराकरण किया है यह विदित है ही। इस के लिए विशेषरूप से नागार्जुन की विग्रहव्यावर्तनी और माध्यमिककारिका देखी जा सकती है।

बौद्ध मत के निराकरण से यह फलित होता है कि ऐकान्तिक क्षणिकवाद जैनसंमत नहीं। क्योंकि जीवका पुनर्जन्म स्पष्टरूपसे स्वीकृत है (आचा० २-४)। और यह भी स्पष्ट किया है कि जीवकी आदि और अन्त देखा नहीं जाता। अर्थात् ही जीव नित्य है (१२३)। शरीर और जीव की भेदाभेदकी चर्चा भगवती में की गई है और शरीर से पारमार्थिक दृष्टि से जीव भिन्न हैं यह आचारांग (१७६) में स्पष्ट किया गया है। जैन हेतुओं से उत्पत्ति मानते हैं यह भी स्पष्ट है क्यों कि नियति न मानकर पुरुषार्थ का स्वीकार किया गया है।

पांच स्कन्ध के स्थान में जीव और अजीव की कल्पना आचारांग में ही स्पष्ट की गई है। जिसकी तुलना बौद्धों के नाम और रूपसे की जा सकती है। सांख्यों के प्रकृति-पुरुष से भी की जा सकती है।

१. असत्से उत्पत्ति होती है-इस मतका उल्लेख और निराकरण छान्दो० ६. २ में है।
२. "इदाणि आयच्छाऽफलवादि त्ति"-सूत्रक० चू० पृ० २८।
३. देखें बौद्ध अवतरण के लिए सूत्रक० पृ० ३६०।
४. मज्झिमनिकाय चूलमालुङ्कय सुत्त ६३। इसकी विशेष चर्चा के लिए देखें न्याया० प्रस्तावना पृ० १४।
५. देखें दीघनिकाय पृ० १३४-१३५। सूत्र० में उद्धृत पाठके लिए देखें पृ० ३५९।

बौद्धों की एक अन्य मान्यताका^१ भी उल्लेख है जिसके अनुसार यदि जानबूझकर काय से हिंसा न करे, अबुध=बालक यदि हिंसा करे, तो केवल कर्म के स्पर्श की वेदना है, यह अव्यक्त सावद्यकर्म^२ है। अर्थात् ही उस अवस्थामें हिंसा का पाप नहीं।^३ पाप के तीन कारण हैं स्वयं हिंसा का अभिक्रम करे, दूसरे को भोज कर हिंसा का कर्म करे या मनसे हिंसा की अनुमादना करे। यदि अपने भाव की विशुद्धि कर इन तीनों से विरत हो तो निर्वाणलाभ होता है। इस दृष्टि से यदि कोई असंयत पुरुषने पुत्रको हरया की हो ओर मेधावी (भिक्षु) (उसके मांसका) भोजन करे तो भी वह कर्म से लिप्त नहीं होता है (५०-५४)।^४

बौद्धों के इस सिद्धान्त का विकसित रूप हमें अभिधर्मकोष में मिलता है जिसकी चर्चा विस्तार से तत्त्वार्थटीकाकार सिद्धसेनने की है। यह चर्चा पं. सुखलालजीने ज्ञानविन्दुकी प्रस्तावना में उल्लिखित की है (पृ० ३०) और श्री जंबूविजयजीने भी सूत्रकृतांग की प्रस्तावना में (पृ० १०-१२) इस चर्चा को पुनः स्पष्ट किया है। मूलपाठों के लिए देखे ज्ञानविन्दुप्रकरण टिप्पणानि पृ० ७९-९७।

आजीविकों के नियतिवाद के विषय में कहा गया है कि जीवको जो सुखदुःख मिलता है उसका कारण स्वकृत या परकृत कर्म नहीं किन्तु वह संगतिक है। और यह भी कहा है कि वे यह नहीं जानते कि क्या नियत है और क्या अनियत है (सूत्रकृ० २७-३०)। अर्थात् ये अहेतुवादी है (सर्वमहेतुतः प्रवर्तत इति—सूत्रकृ० चू० पृ० ३१)। संगतिक शब्द का अर्थ चूर्ण में है—“संगतियं णाम सहगतं संयुक्तमित्यर्थः। अथवा अस्य आत्मनः नित्यं संगतानि इति। संगतेरिदं संगतियं भवति, संगतेर्वा हितं संगतिकं भवति”—सूत्रकृ० चू० पृ० ३१। नियत-अनियत के स्पष्टीकरण में कहा है कि कुछ कर्म अवश्य वेदनीय है जैसे कि निरूपक्रम आयु देव और नारकका। यह नियतवेदनीय है। और सोपक्रम आयु को अनियतवेदनीय कहा है - सूत्रकृ० चू० पृ० ३२^५।

स्पष्ट है कि जब इस मतका निराकरण किया तो कर्म और उसके फल की मान्यता होने से कर्मवादी जैनमत हो यह सिद्ध होता है और आचाराग में प्रारंभ में ही कर्मवाद की मान्यता को स्वीकृति दी ही है (आचो० ३)।

अज्ञानवादियों के मतका निर्देश करके कहा है कि कुछ श्रमण-ब्राह्मण हैं जो कहते हैं कि हम सब कुछ जानते हैं, लोकके अन्य जीव कुछ भी नहीं जानते, वे तो म्लेच्छके समान हैं, जो अम्लेच्छकी बात सुनकर उसकी आवृत्ति मात्र करते हैं। तात्पर्य वे समझते नहीं इत्यादि (४०-४९)।

पालिपिटकमें जो संजय बेलहपुत्र का मत निर्दिष्ट है उसकी संज्ञा विक्षेपवाद^६ है और वह इस अज्ञानवाद से पृथक् प्रतीत होता है।

प्रगत अज्ञानवाद के निराकरण से इतना ही फलित होता है कि ज्ञान किसी एक को ही है और शेष मूर्ख है—ऐसा नहीं माना जा सकता। जो भी आने ज्ञानावरण का निराकरण कर सके वह स्वयं ज्ञानी होगा यह बात जैनको मान्य होगी। अर्थात् ही सब जीवको ज्ञानी बनने का अधिकार है—यह जैनमत फलित होता है।

१. यहाँ उसे क्रियावादी कर्मवादी कहा है। सूत्रकृ० पृ० ५०।

२. इस बौद्धमतकी पुष्टि के लिए देखें सूत्रकृ० पृ० ३६०-३६१ में बौद्ध उद्धरण।

३. व्याख्याके लिए सूत्र० चू० पृ० ३७-३८।

४. तत्त्वार्थभाष्य २. ५२।

५. दीघ० पृ० ५१।

इसी प्रकार लोक के विषय में जो नाना मत थे जैसे कि देवगुप्त, ब्रह्मगुप्त, ईश्वरकृत तथा प्रधानादिकृत, स्वयंभूकृत, मायाकृत, अण्डकृत आदि—उनको भी मृषावादी कहकर अमान्य किया है (६४-६८) और कहा है— “तत्त्वं ते न वियाणंति न विणासी कयाइ वि” (६८) अर्थात् यह लोक अविनाशी है। अर्थात् ही किसी ने उत्पन्न भी नहीं किया। इस मत के निराकरण में कहा है कि समुत्पाद को ही नहीं जानते तो संवर को क्या जानेंगे (६९)

सूत्रकृतांगमें ईश्वर के अवतारवाद के विरुद्ध जो कहा है वह इस प्रकार है—कुछ लोग आत्माको शुद्ध और अपाप मानकर भी क्रीडा और प्रद्वेष के कारण उसे अपराधी मानते हैं (७०)। इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर का अवतार क्रीडा के कारण होता है अथवा धर्महानि को देखकर हानिकारक के विरुद्ध प्रद्वेष के कारण होता है, यह मान्यता तब तक प्रचलित हो गई होगी। यहाँ गीताके अ० ४ श्लो० ६-८ ध्यान देने योग्य हैं। जहाँ स्पष्ट किया गया है कि ईश्वर के कई अवतार होते हैं धर्म की रक्षा और दुष्टों के विनाशके लिए।

इससे स्पष्ट होता है कि वीतराग पुरुष को पुनर्जन्म होता नहीं ऐसा स्पष्ट मन्तव्य जैनों का स्थिर हो गया होगा।

आचारांग में प्रायः लोकका अर्थ था जीवसमूह, तो यहाँ उससे पृथक् क्षेत्रलोक की कल्पना स्पष्ट है^१ क्यों कि जीवलोक और क्षेत्रलोक का पृथक्करण होने पर ही उक्त सृष्टि-विचार को अवकाश मिलता है। और इसी क्षेत्रलोकके विषय में एक मत ऐसा है कि लोक अनन्त है और निरय है, शाश्वत है, उसका विनाश होता नहीं है—किन्तु जैनदर्शन के अनुसार लोक अन्तवान् है, नित्य है—(८१)। आचारांग में एकवार ‘लोकालोक प्रपंच’ शब्द का प्रयोग हुआ है— १२७। इससे अलोक की मान्यता सिद्ध होती है। अतएव यहाँ लोक को अन्तवान् मानना संगत है।

जीवो के भेदों में भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों का विभाग जो बादके आगम में स्पष्ट है वह सूत्रकृतांग में देखा नहीं जाता अन्यथा “देवा गन्धर्ववरकल्सा असुरा” (९३) और ‘जे रक्खसा वा जमलोइया वा जे वाऽसुरा गंधवा व काया”^{५४७}—यह उल्लेख इस रूपमें नहीं होता—यह प्रक्रिया तो उस काल के वैदिकों की थी।

‘रात्रिभोजन सहित महाव्रतों’ का उल्लेख सूत्रकृतांग में (१४५) मिलता है और एक साथ पांच प्राणातिपात आदिका उल्लेख भी है (२३२)। अतएव इसके कालमें पांच महाव्रतों की मान्यता स्थिर हो गई थी ऐसा कहा जा सकता है जो, सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में (६८१) तथा दशवैकालिक में तो स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट ही है।

लोक में तीन लोक—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् की कल्पना स्पष्ट है और उसमें त्रस-स्थावरों का निवास है—यह भी स्पष्ट हो गया है (२४४) किन्तु नरक के सात भेद जिस रूपमें आगे चलकर स्थिर हुए उसके स्थानमें नरकों का विभाग कुछ दूसरा ही सूत्रकृतांग में है (अ० ५)।

वैदिकपरिभाषा में विद्या और आचरण (५४५) को मोक्षमार्ग कहकर भी

१. सूत्र०चू० में मूल पाठ है—“कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतारते” और शीलंकटीकानुसारी पाठ है—पुणो कांडापदोसेण से तरथ अवरज्जति” (७०)।

२. आचारांग में क्षेत्रलोक की बात नहीं थी यह कहना अभिप्रेत नहीं किन्तु यह कि वहाँ अधिकांश में लोक शब्द जीवसमूह के लिए प्रयुक्त है, वह अब क्षेत्रलोककी व्यवस्था के बाद उस अर्थ में प्रयुक्त होना कम हो गया।

—मोक्ष का मार्ग या सिद्धि की प्राप्ति के तीन कारण—ज्ञान, दर्शन और शील यहाँ स्पष्ट रूप से कहे गये हैं (३६८) जिसका अनुसरण सूत्रकृतांग में ही द्वितीय श्रुतस्कंध में सातवें अध्ययनमें ८६०वें सूत्रमें शीलके स्थानमें चारित्र शब्द रख कर जो हुआ वही पारिमाणिक रूपसे आगे के सभी ग्रन्थों में अनुसृत है। यहाँ शील शब्द का प्रयोग जो है वह चारित्र को 'शील' शब्दसे ख्यात करने की प्राचीन प्रथा को लेकर है यह ध्यान में रखना जरूरी है—बौद्धों में शील, समाधि और प्रज्ञा ये क्रमिक कारण हैं। किन्तु जैनों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये क्रमिक कारण है इस और भी ध्यान देना जरूरी है। उपनिषदों में ज्ञान को ही महत्त्व दिया गया था, उसके स्थान में यहाँ चारित्र को महत्त्व मिला है। बौद्धों ने भी शील को महत्त्व दिया, किन्तु क्रममें उसे प्रथम रखकर प्रज्ञाको उससे अधिक महत्त्व दिया वह एक प्रकार से शील की अपेक्षा ज्ञान को ही अधिक महत्त्व है—इसको सूचित करता है। किन्तु जैनों की दृष्टिमें चारित्र का विशेष महत्त्व है।

इन कारणों से संपूर्ण कर्मोंका विशोधन होता है अर्थात् क्षय होता है तब ही सिद्धि या मुक्ति प्राप्त होती है—यह भी स्पष्ट किया गया है। इसी दृष्टि से भ. महावीर को निर्वाणवादी में श्रेष्ठ बताया गया है (३७२)। सिद्धि के अन्य कारण जैसे कि आहार का त्याग, सीतोदकका सेवन, अग्निहोत्र (३९२)—इनका निराकरण किया गया है और कहा है कि यदि शीतोदकके सेवन से मुक्ति होती हो तो सदैव शीतोदकका सेवन करनेवाले मत्स्यादिकी सिद्धि हो जानी चाहिए (३९४-३९७)। इसी प्रकार अग्निहोत्र का भी निराकरण किया गया क्यों कि इसमें निरपराध जीवों की हिंसा होती है (३९८-४०१)।

सूत्रकृतांगमें आकर तत्त्वों की गणना किस प्रकार होने लगी यह भी देख लेना जरूरी है, जिससे उस सूचीमें किस प्रकार संकोच-विस्तार होकर व्यवस्था हुई यह जाना जा सकेगा। दार्शनिक मतोंका विभाजन क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान वादोंमें^१ करके भी जैनमत को जैसा कि आचारांग (३) के प्रारंभमें कहा है क्रियावाद ही कहना होगा। अतएव यह स्पष्टीकरण आवश्यक था कि वास्तविक क्रियावादी कौन हो सकता है या क्रियावादके उपदेशके लिए क्या शर्त हो। इसका स्पष्टीकरण १२ वें अध्ययनमें किया गया है और वहाँ उस प्रसंगमें—आत्मा, लोक, गति और अनागति, शाश्वत और अशाश्वत, जन्म-मरण, उपपात और व्युत्क्रांति, आस्रव और संवर, दुःख और निर्जरा—इनको जो जानता है वही क्रियावादका उपदेश देनेका अधिकारी है—यह स्पष्टीकरण किया गया है (५५४-५५५)। यह सूची उस समय तकके मान्य तत्त्वों की कही जा सकती है।

जैन दर्शनका अनेकान्तवाद प्रसिद्ध है। उस अनेकान्तवादका पूर्व रूप है विभज्यवाद। सूत्रकृतांगमें यह कहा गया है कि—“विभज्जवायं च वियागरेज्जा” (६०१) अर्थात् वचनमें विभज्यवाद का आश्रय लेना चाहिए। यह विभज्यवाद भ० बुद्धके द्वारा भी उपदिष्ट है। मैंने अपनी पुस्तक “आगमयुग का जैनदर्शन” में (पृ० ५३ से) इसकी व्याख्या करने का तथा बुद्धके विभज्यवादके साथ तुलना करनेका प्रयत्न किया है। अतएव यहाँ उसका विस्तार करना अनावश्यक है। सारांश यह है कि किसी प्रश्नका एकान्त उत्तर न देकर विभाग करके उत्तर देना यह विभज्यवाद है। उसीमें से अनेकान्तवादका विकास हुआ है। सूत्रकृतांगमें इसकी

१. तत्त्वार्थसूत्र में क्रम है दर्शन, ज्ञान, चारित्र—यह विचार के विकास की सूचना देता है।

२. सू० ३७८।

कोई व्याख्या नहीं मिलती, किन्तु भगवतीसूत्रके कई सूत्र ऐसे हैं जिनमें विभज्यवादका स्वरूप स्पष्ट होता है। विभज्यवादमें नयीका विचार नहीं हुआ है। नयवादके विकासको तब अवसर मिला जब तत्त्वकी विवेचना शुरू हुई। विभज्यवादकी जो प्रारंभिक चर्चा है उसमें जैसे कि ज्ञाना और अज्ञाना, धर्मी-अधर्मी आदि विभाग करके उत्तर दिया जाता है। किन्तु अनेकान्तवादमें अपेक्षा या नयों को शोध की गई और क्रमशः उनी परंपराका विकास होकर अनेकान्तवाद स्थिर हुआ।

सूत्रकृतांग — द्वितीय श्रुतस्कंध

सूत्रकृतांगके द्वितीय श्रुतस्कंधमें प्रथम श्रुतस्कंधगत तत्त्वविचारमें प्रगति देखी जाती है। द्वितीय श्रुतस्कंध के पांचवें अध्याय 'आयारसुय' में यह स्पष्टीकरण है कि लोक अनादि और अनन्त है ऐसा जानकर भी उसे केवल शाश्वत या अशाश्वत नहीं कहना चाहिए (७५५)। शास्ताका उच्छेद होगा और सभी प्राणी विसृष्ट हैं तथा सभी प्राणी सदैव ग्रन्थमें ही रहेंगे अर्थात् संसारमें ही सदैव भ्रमण करते रहेंगे—ऐसी मान्यता भी नहीं कहनी चाहिए (७५७)। इसी सिद्धान्त से फलित होने वाला दूसरा सिद्धान्त भी कहा कि जीव छोटा हो या बड़ा, उनकी हिंसासे होनेवाला वैर सदृश हो है या असदृश हो है—ऐसा भी नहीं कहना चाहिए (७५९)। इससे जीवकी शरीरपरिमाणकी मान्यता फलित होती है, किन्तु स्पष्ट शब्दोंमें उसे कहा नहीं गया है। यथाकाम्य (आहाकम्प) साधुके लिए ब्रा—यदि उपयोग में लेता है तो अवस्था कर्मबन्ध होता है या नहीं होता है यह कहना भी नहीं चाहिए (७६१)। इस प्रकार औदारिक आहार और काम्य आहारमें अपनी वीर्यशक्ति है या नहीं है ऐसा भी एकान्तरूप से नहीं कहना चाहिए (७६३)। ये सभी अवचनीय हैं—अवक्तव्य हैं। किन्तु इसके बाद श्रद्धाके—दर्शनके विषयों की चर्चा जो की गई है उसमें उक्त प्रथम श्रुतस्कंधगत सूचीको नया रूप—संशोधित रूप दिया गया है। और उन्हें 'अस्ति' कोटि में रखा गया है। वहाँ जिन तत्त्वों को 'अस्ति' कहना और 'नास्ति' नहीं कहना यह कहकर गिनाया है वे हैं—लोक, अलोक, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जंग, क्रिया, अक्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, चतुरंत संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, सिद्धिनिजस्थान है, साधु, असाधु, कल्याण, और पाप (७६५-७८१)।

यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यहाँ जो धर्म-अधर्म गिनाये हैं उनका तात्पर्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायसे नहीं है यह बात सभी टीकाओं को मान्य है। स्पष्ट है कि यह सूची आगे चलकर जो सात या नव तत्त्वकी सूची स्वीकृत हुई है उसका पूर्वरूप है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि यह तत्त्वों या पदार्थों की सूची व्यवस्थित करने का प्रयत्न सर्वप्रथम हुआ है। उसके बाद क्रमसे पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य की सूची बनी है। यह पदार्थोंकी सूची विश्वरूपकी व्याख्याके लिए नहीं किन्तु मोक्षमार्गकी व्याख्याके अनुकूल है। विश्वव्याख्याके लिए तो पंचास्तिकाय-षड्द्रव्यकी सूची बनी है।

पंचास्तिकाय और षड्द्रव्यकी कल्पना नव तत्त्व या सात तत्त्वके बाद ही हुई है उसका प्रमाण हमें भगवतीसूत्रसे मिल जाता है। वहाँ प्रश्न किया गया है कि लोकान्तमें खड़ा रह कर देव अलोकमें अपना हाथ हिला सकता है या नहीं? उत्तर दिया गया कि नहीं हिला सकता। और उसका कारण बताया कि "जीवाणं आहारोवचिया पोगला, बोदिचिया पोगला, कलेवरचिया पोगला, पोगलमेव पप्य जीवाण य अजीवाण य गइपरियाए आहिउजइ। अलोए

णं नेवस्थि जीवा नेवस्थि पोगगला”-१६.८.१५ । स्पष्ट है कि जीव और अजीव की गतिका कारण पुद्गलको माना गया है । यदि भगवर्तके इस स्तरकी रचनाके समयमें धर्मास्तिकाय-द्रव्यकी कल्पना स्थिर हो गई होती तो ऐसा उत्तर मिलता नहीं । धर्मास्तिकायादि की प्ररूपणा क्या भगवान् महावीर ने की है ? ऐसे प्रश्न भी अन्य तीर्थिकों को हुए हैं यह भी सूचित करता है कि यह कोई नई बात दार्शनिक क्षेत्रमें चल पडी थी-भगवती-७.१०.३-६ । भगवती में ही धर्मास्तिकाय आदिके जो पर्याय दिये गये हैं वह भी उन्हें द्रव्य माननेके पक्ष में नहीं है-भगवती २०.२. ४-५ -

“धम्मत्थिकायस्स णं भंते केवइया अभिवयणा पन्नत्ता ? गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पणत्ता, तं जहा धम्मे ति वा धम्मत्थिकाए ति वा, पाणाइवायवेरमणे ति वा, मुसावायवेरमणे ति वा एवं जाव परिग्गहवेरमणे ति वा, कोहविवेगे ति वा, जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे ति वा, रियासमिती ति वा, भासास० एसणास० आयाणभंडमत्तनिकखेवणस० उच्चारपासवणखेलसिघाण-पारिट्टावणियासमिती ति वा, मणगुत्ती ति वा वइगुत्ती ति वा कायगुत्ती ति वा जे यावन्ने तह-प्पगारा सव्वे ते धमत्थिकायस्स अभिवयणा”-इत्यादि- इसी तरह अधर्मास्तिकाय के भी पर्याय शब्द दिये हैं । इससे स्पष्ट है कि गतिसहाय;दि द्रव्यरूपसे जो आगे चलकर धर्म और अधर्म अस्तिकाय की कहरना की गई है उसका यह पूर्वरूप है, जिसका संबंध अठारह पापस्थानों से विरति और अविरति और समिति गुप्तिके पालन-अपालन रूप श्रमणादि के आचार-अनाचाररूप धर्म-अधर्म से है । द्रव्य धर्म-अधर्म से नहीं ।

उक्त अति विस्तृत सूचि का संकोच देखना हो तो सूत्रकृतांग के ही द्वितीय श्रुतरकंध के दूसरे अध्ययन के ७१५ वें सूत्र में है-जहाँ-जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आखव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष का निर्देश है । इसी सूची का संकोच हम सात पदार्थ में और नव तत्त्व में देखते हैं । इसमें से वेदना, क्रिया और अधिकरण को निकाल देने से ही ये अंतिम सूचियाँ बनी है- इसमें संदेह नहीं है । स्पष्ट है कि सूत्रकृतांग के काल तक पंचास्तिकाय और षट्द्रव्य की चर्चा ने तत्त्वविचारणा में स्थान पाया नहीं है ।

प्रमाण या ज्ञान की चर्चा में भी प्रगति सूत्रकृतांग में देखी जा सकती है । यद्यपि प्रथम श्रु० में ‘सव्वण्णु’-सर्वज्ञ शब्द का प्रयोग नहीं दिखता फिर भी ‘न नायपुत्ता परमत्थि नाणी’ (३७५) अणंतचक्रव् (३५७), सव्वदंशी अभिभूयनाणी (३५६) अणंतनाणदंसी (४६०), ‘अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी, अणुत्तरनाणदंसणधरे’ (१६४), अणंतनाणी अणंतदंसी (३५४), तिलोणदंसी (५९५), जगसव्वदंसिणा (१४१) ये सर्वज्ञता की सूचना तो देते ही हैं । स्पष्टरूप से निर्देश के लिए तो आचारांग के द्वितीय और सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतरकंध ही हमारे लिए प्रमाण उपस्थित करते हैं—‘सव्वण्णू सव्वभावदरिणी’ (आ०७७३) ‘केवली बूया’ (आ०३३८, ३४०, ३४२ आदि), ‘केवल’ (सू०८३५-८३६), ‘केवलेण पुण्णेण नाणेण (सू०८३६), ‘केवलवरनाणदंसण’ (आ.७७२, ७३३; सू०७१४) ।

आचारांग के द्वितीय श्रुतरकंध में ‘तित्थ’ (७५२) ‘तित्थयराभिसेय’ (७३९) जैसे प्रयोग सूचित करते हैं कि उस काल में अर्हतों को ‘तीर्थकर’ शब्दसे सम्बोधित किया जाने लगा था । उसी शब्द का प्रयोग फिर तो सामान्य हो गया-भगवती सू०४(२) ।

१. सूत्रकृतांग में आकर पांच आखव और उसके संवर की व्यवस्था हो गई है- “साहू-पंच संवरसंबुडे” ८८ ।

सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कंध में भी अवधि और मनःपर्याय की कोई चर्चा नहीं है किन्तु आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में भ. महावीर के जन्म के समय में तीन ज्ञान का उल्लेख है जो सूत्रों करता है कि पांच ज्ञान की कल्पना स्थिर हो गई थी। क्योंकि वहीं स्पष्ट किया गया है कि शीघ्र लेते की उन्हें मनःपर्याय ज्ञान का भी लाभ हुआ (आ०-७६९)

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंधका प्रथम अध्ययन प्रथम श्रुतस्कंध में जिन २ मतों का खंडन किया गया है उनमें से कुछ का विशेष विवरण प्रस्तुत करता है। उस प्रसंग में जैनदर्शन को मान्यताएँ किस प्रकार स्पष्ट रूपमें बनती गईं उनकी कुछ झलक हमें मिलती हैं।

अनेक दृष्टांत देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि शरीर से भिन्न जीव की सिद्धि हो नहीं सकती। शरीर को जटा देने के बाद आत्मा या जीवका कहीं पता नहीं लगता अतएव परलोक और सुकृत-दुष्कृत की बात करना मिथ्या है—यह मिथ्या मन 'तज्जी-वाच्छशारवाद' का प्रथम उल्लिखित है (६५०-६५३)। अर्थात् ही जैनों की जीव शरीर से भिन्न हैं—यह मान्यता स्थिर हुई।

दूसरा मत पंचभूतवादीओं का है (६५५-६५८)। इस मत में पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं और वे अनिर्मित, अनिर्मापित, अकृत, अकृत्रिम, अकृतक, अनादि, अनिघन, अवध्य, अपुरोहित, सतत और शाश्वत है। इन पांचों के अलावा आत्मा भी छटा तत्त्व है। उनका कहना है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। अतएव इतने में ही जीवकाय, अस्तिकाय या सर्वलोक आ जाता है। कोई किसी को मारे तब भी कोई दोष होता नहीं। क्योंकि उक्त तत्त्व तो शाश्वत हैं। इस मत को भी मिथ्या कहा अतएव फलित यह हुआ कि जैनमतानुसार ये तत्त्व ऐसे नहीं जिसमें कोई परिवर्तन न हो। पृथ्वी आदि सभी में परिवर्तन की गुंजाईश है और इनी कारण से हिंसा आदि दोषों की संभावना भी है। इन्हीं तत्त्वों में लोक को सीमित करना भी जैन मतको मान्य नहीं—यह भी इससे फलित होता है।

इस पंचभूतवादीओं ने अपने तत्त्वों को अस्तिकाय (सू०६५७) कहा है—संभव है यहाँ से जैनों ने अपने तत्त्व के लिए अस्तिकाय शब्द अरनाया हो। क्योंकि इस मत-वालो ने इन्हीं को लोक भी कहा है और आगे चलकर जैनों ने भी लोक की व्यवस्था पंचास्तिकाय से ही की है। (भगवई १३.४.२३) अथवा यह भी संभव है कि जैनों की अपनी मान्यता को समक्ष रख कर भी यह तुलना की गई हो। इस दृष्टि से अस्तिकाय शब्द का प्रयोग प्रथम जैनों द्वारा हुआ यह मानना पड़ेगा। इस मतके जो अन्यत्र वर्णन आते हैं उसमें अस्तिकाय शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता अतएव अधिक संभव है कि यहाँ अपने मतको समक्ष में रखकर ही दूसरे मत का विवरण दिया है।

तीसरे मत में केवल ईश्वरकारणिक की चर्चा है (६५९)। प्रथम श्रुतस्कंध में जो ईश्वर के अलावा अन्य कारणों की चर्चा की गई है उस का निर्देश नहीं है यह सिद्ध करता है कि अनेक कारणों में से केवल ईश्वरकारणवाद ही विशेष प्रतिष्ठित हुआ तब की यह रचना हो। इस मतको भी मिथ्या बताया है—तार्क्य यही है कि जगत्सृष्टि का कारण ईश्वर

१. इसके लिए उदाहरण के तौर पर आचारांग प्रथम श्रुतगत षड्जीविकाय का वर्णन और सूत्रकृतांगत उसके वर्णन की तुलना की जाय तो उत्तरोत्तर विकास कैसा होता गया यह ज्ञान हो जायगा—सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कंध का अध्ययन-३।

नहीं है। संसार तो अनादि और अनन्त है (अणाइयं च णं अणवयगं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकंतारं (सू०७१९)।

चौथा मत नियतिवाद निर्दिष्ट है (६६३-६६५)। उसका भी निराकरण किया गया है। अर्थात् ही नियति के स्थान में पुरुषार्थ और कर्म को महत्त्व दिया गया है। स्पष्टीकरण किया गया है संसार में स्वकृत कर्म स्वको ही भुगतना पड़ता है। प्रत्येक जीव अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता है। प्रत्येक जीव में अपना मरण, चयन, उपपाद, ज्ञांशा, संज्ञा, मनन, विज्ञान और वेदना होते हैं। अन्य कोई सम्बन्धी जन इसमें त्राण या शरण नहीं है। अतएव जीव को चाहिए कि वह कामभोग को अपना न माने और अपने सम्बन्धी जनको भी अपना न माने।

आचारांग में षड्जीवनिकाय का मुख्य रूपसे वर्णन है किन्तु सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुत-रकंध में जीवविचारने प्रगति की है यह स्पष्ट है। जीव के कई उत्तर भेद आचारांग में नहीं मिलते उनका विवरण योनिभेद को लेकर विस्तार से किया गया है।

जीवों की उत्पत्ति किस २ योनि में होती है। तथा एक भव से दूसरे भव में जब जीव जाता है तब वहाँ अपने जन्म स्थान में किस प्रकार आहार ग्रहण करता है और अपने नये औदारिक शरीर का निर्माण करता है— इसको विस्तृत वर्णन द्वितीय श्रुतरकंध के 'आहार परिज्ञा' नामक तीसरे अध्यायन में है। किन्तु उसमें नारक और देव के उपपाद का या आहार का वर्णन नहीं है यह भी ध्यानमें लेना चाहिए। यह विचार बादमें होने लगा यह स्पष्ट होता है। एक और भी ध्यान देने की बात है कि जीवों के एक प्रकार को 'अनुस्यूत' कहा है। और द्वि-त्रि-चतुन्द्रिय जीव कौन हैं— यह अभी निश्चित नहीं हो पाया था।

सूत्रकृतांग से यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान् के अलावा भिक्षुओं ने भी धर्मोपदेश देना शुरू किया था^१। यही कारण है कि हम अंग में भी जो कुछ लिखा गया है वह सब भगवान् द्वारा उपदिष्ट है—यह नहीं मान सकते।

सूत्रकृतांगमें पापश्रुतअध्ययनों अथवा तो आसुरिविद्याओं को जो सूची दी गई है उससे भी पता चलेगा कि यह रचना भगवान् महावीरकालीन नहीं है—(७०८)।

प्राचीनतम माने जाने वाले आगमों से जैन दर्शन का जो रूप हमारे समक्ष आता है उसका संक्षेपमें यहां निर्देश मैंने किया है। इसके बाद के भगवतो जैसे ग्रन्थों में हमें दार्शनिक विचारों की प्रगति के साथ साथ जो पुराना मत भी उपलब्ध होता है यही इसका प्रमाण है कि दार्शनिक मन्तव्यों में आगमों में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। और यह सिद्ध होता कि ये दोनों ग्रन्थ सबसे प्राचीन हैं। और उन्हीं में जैनदर्शन की भूमिका रखी गई है जिसका विकास आगे के आगमों में और उसके बाद के दार्शनिक ग्रन्थों में हुआ है।

उस विकास की रूपरेखा भी यहाँ दे देना उपयुक्त होगा। जीवविद्या ही जैनों की अपनी विद्या है अतएव आगमों में जीवविचार विशेष रूप में हुआ। जीव के ज्ञान, दर्शन

१. कलह, क्लेश, क्रोध आदि कई अर्थ इसके हैं।

२. सू० ६९० में स्पष्ट कहा है कि भिक्षु अपनी अन्नादि की आवश्यकता की पूर्तिके लिए धर्मका कथन न करे। और भी 'चोयए पन्नवगं एवं वयासी' 'आचार्य आह' ऐसे प्रयोग भी इसका समर्थन करते हैं—सू०७४८, ७४९।

और चरित्रका विचार मुख्य है किन्तु साथ ही जीव के भेद, उनकी इन्द्रियाँ और मन तथा शरीर, उनकी आयु, उनकी लेश्या, उनके कषाय, रहने के स्थान, एक जन्म से दूसरे जन्म में होने वाली गति और आगति, जीव के कर्मबन्धके कारण कर्म से छूटने के उपाय, नाना प्रकार की तपस्याएँ, सिद्ध जीव की गति और स्थिति तथा स्वरूप, कर्म की स्थिति, कर्म के प्रदेश, कर्मका विपाक-इन बातोंका विस्तार से विचार हुआ। जीव के साथ जो कर्म का बन्धन होता है वे अजीव पुद्गल के परमाणु होते हैं। अतएव पुद्गल का विस्तार से विवेचन भी हुआ। जीव और पुद्गल की गति मानी गई थी अतएव अधर्मास्तिकाय की और उसकी स्थितिके लिए अधर्मास्तिकाय की कल्पना की गई। लोक-अलोक का पूरा भौगोलिक निरूपण हुआ। जीवकी अवनति और उन्नतिकी प्रक्रिया का विचार हुआ। इसी संदर्भ में गुणस्थान की चर्चा की गई और उसी संदर्भ में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव जैसे महापुरुषों की विचारणा हुई। यह सब विवरण आगमों में देखा जा सकता है।

जीव और पुद्गल के विवरण प्रसंग में व्युच्छित्तिनय और अव्युच्छित्तिनय, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय, नैगमादि नय, निश्चय और व्यवहारनय-इन सब नयों की कल्पना की गई। अभिप्रेत अर्थ के निर्णय के लिए निक्षेप और अनुयोगद्वारों की कल्पना की गई। इस प्रकार के प्रमेयों को व्यवस्था के लिए पांच ज्ञान और प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञानों की व्यवस्था सोची गई। यह सब भगवतो, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम, स्थानांग-समवायादि आगमों में दार्शनिक विकास की प्रक्रिया है। किन्तु इन सब में मुख्यरूप से भेद-प्रमेदों की गणना और निर्देश है। दलील या तर्क को अवकाश बहुत कम मिला है। तार्किक प्रक्रिया का उद्भव और विकास तो दर्शनकाल के ग्रन्थों में हुआ है। अतएव यहाँ उसका भी संक्षेप में निर्देश करना जरूरी है।

आगमों में जो कुछ विकास हुआ वह अधिकांश आंतरिक यानी जैनधर्म की अपनी जीवा-जीवकी मान्यता को लेकर हुआ और दार्शनिक ग्रन्थों में जो विचार और विश्लेषण हुआ वह बाह्य अर्थात् जैनतर दर्शनों के संदर्भ में हुआ। सबसे प्रथम नयों के विषय में जो विचार-विकास हुआ वह मल्लवादी के नयचक्रमें देखा जा सकता है। उसमें तत्कालीन सभी दर्शनों की मान्यताओं को ही नय के रूप में माना गया है और इस प्रकार तथाकथित मिथ्यादर्शनों के समूह को जैनदर्शन कहा गया। मिथ्यादर्शनों का समूह ही सम्यग्दर्शन-जैन दर्शन कैसे होगा-इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया कि प्रत्येक नय अपने को ही सब मानकर चलत है और अन्यको मिथ्या। जब कि स्थिति यह है कि प्रत्येक नय आशिक सत्य है अतएव अपने कदाग्रह के कारण ही वे मिथ्या कहे जा सकते हैं। जैनदर्शन उन नयों के कदाग्रह का निरास करके सभी को सत्य मानकर चलता है अतएव मिथ्या का समूह होकर भी सम्यक् बन जाना है। मल्लवादी को इस नय विचारणा की प्रेरणा मिली थी सिद्धसेन के सन्म-तिसे जहाँ संक्षेप में नय का स्वरूप अन्य भारतीय दर्शनों के संदर्भ में सोचा गया था। इसी नय की विचारणा के आधार से अनेकान्तवाद की स्थापना देखी जा सकती है और उस स्थापना के लिए समन्तभद्रकी आत्मभीमांसा मार्गदर्शक ग्रन्थ बन गया है। प्रश्न यह था कि हम आत्म किसे माने? समन्तभद्र ने उत्तर दिया कि आत्म तो जैन तीर्थंकर ही हो सकते हैं क्यों कि उनके कथन में पूर्वापर विरोध नहीं है। जब कि अन्य दार्शनिकों में वह विरोध

देखा जा सकता है। उन्होंने एक एक दर्शन को लेकर वह विरोध किस प्रकार है—इसे दिखा कर विरोध का निरास केवल अनेकान्तवाद मानने पर ही हो सकता है—इस बात की पुष्टि की। इस प्रकार अनेकान्तवाद को भारतीय-दर्शनक्षेत्र में एक समन्वय-दर्शन के रूप में उपस्थित किया। भारतीयदर्शनों में प्रमाणचर्चा चल रही थी। उसका भी अध्ययन करके आचार्य अकलंक ने जैनप्रमाणमोर्मासाको प्रतिष्ठित किया। यद्यपि उनसे भी पूर्वकाल में सिद्धसेनने प्रमाण-चर्चा का प्रारंभ किया था किन्तु वह मात्र प्रारंभ ही था। समग्रभाव से भारतीय दर्शनों की प्रमाणचर्चा का आकलन करके जैनप्रमाणचर्चा की नये रूप में प्रतिष्ठा तो अकलंक की ही देन है। इन आचार्यों के बाद भी हरिभद्र, विद्यानन्द, माणिक्यनंदी, प्रभावन्द्र, वादीदेव, आदि ने जैनप्रमाण-प्रमेय-अनेकान्तवादके विषयमें अपने अपने समय में उठे हुए नये नये प्रश्नों का समाधान करके जैन तत्त्वविद्याको आगे बढ़ाया और प्रस्थापित किया।

अन्त में उपाध्याय यशोविजय ने हो नठयन्यायका आश्रय लेकर जैनदर्शनकी उस क्षेत्र में भी प्रतिष्ठा की। इस प्रकार जैनदर्शन को अद्यतन बनाने का श्रेय उपा० यशोविजय को दिया जा सकता है।

मैंने बाद के आगमों में प्रमाण-प्रमेय-अनेकान्तवाद का क्या रूप है, उसका विस्तार से मेरे 'आगमयुगका जैनदर्शन' ग्रन्थ में विवेचन किया ही है और दर्शनकालके ग्रन्थों में जो जैन दर्शन हमारे सामने आता है उसका विस्तृत विवेचन पं. महेन्द्रकुमार के ग्रन्थ 'जैनदर्शन' से भली-भांति जाना जा सकता है अतएव मैं इस व्याख्यान में उसका विवरण देना नहीं चाहता। किन्तु समय और अवसर मिला तो जैनदर्शन के क्रमिक विकास का इतिहास लिखने की भावना है। पता नहीं वह कब पूरी होगी।'

१ डॉ. ए. एन्. उपाध्ये की स्मृति में ता० ८.१०.७७ को शिवाजी विश्वविद्यालय में दिया गया द्वितीय व्याख्यान। इसके मुद्रण में देरी होने के कारण यत्र तत्र वृद्धिका अवसर व्याख्याताने लिया है।

